आयुर्वेद दर्शन

लेखक

वैद्य महादेव चन्द्रशेखर पाठक

१९३७ [१-८-०

प्रकाशक—

वैद्य महादेव चंद्रशेखर पाठक

७५ आडा बाजार ~~७२ जुनी कसेरा बाखल~~, इंदूर सिटी.

मुद्रक—

दि. रा. एकतारे, बी. ए.

सहकारी मुद्रणालय, इंदूर.

प्रस्तावना

संसार के समस्त विज्ञान, जिस तरह भाव स्वभावों के विशिष्ट प्रकार के वर्गीकरण पर अथवा अन्वयं व्यतिरेक पर अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं उस तरह आयुर्वेद भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। दूसरी भाषा में आयुर्वेद का तंत्र उसके विशिष्ट प्रकार के दार्शनिक सिद्धांत पर अवलंबित है। इस आयुर्वेद दर्शन में आयुर्वेद के दार्शनिक सिद्धान्त को ही जानने का यथामति यत्न किया गया है। इस प्रवृत्ति का एक कारण यह भी है कि आयुर्वेद के दार्शनिक विधानों का ऐतिहासिक दृष्टि से अभ्यास करते हुए जिन अतीत घटनाओं पर प्रकाश पड रहा है और भविष्य में पडना संभव है उन पर यदि विचार किया जाय तो केवल आयुर्वेदिक ही नहीं बल्कि समस्त आर्ष विज्ञानेतिहास की कई उलझनें सरलता से सुलझ सकती हैं।

प्रत्येक दर्शन के सामान्यतः दो प्रतिपाद्य विषय होते हैं; सृष्टि विज्ञान और अध्यात्म। इन दोनों के विषय में सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि सचेतन अचेतन द्रव्यों के उत्पादक विनाशक पदार्थों का अथवा द्रव्यगुण कर्मों का प्रधानतया विचार करना सृष्टिविज्ञान का विषय है और इनकी तह में आत्मा, विराट्पुरुष, या ब्रह्म के अस्तित्व का अनुभव करना अध्यात्म का। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि मानुषी बुद्धि ने प्रथम सृष्टिविज्ञान का अभ्यास किया और इसके बाद अध्यात्म का। आयुर्वेद दर्शन में यद्यपि दोनों विषयों का प्रतिपादन है तथापि उसका प्रधान विषय सृष्टि विज्ञान

है। क्योंकि उसमें मोक्ष की अपेक्षा भाव स्वभाव, आयु, पुरुष, रोग आदि सृष्टि विज्ञान संबंधी विषयों पर अधिक विचार किया जाता है। और इस पर से यह भी सिद्ध होता है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा आयुर्वेद दर्शन अधिक प्राचीन है। अन्य दर्शनों का प्रचार इसके बाद हुआ; वे अध्यात्म प्रधान हैं; उनका एक मात्र साध्य मोक्ष है और सृष्टि विज्ञान पर वे उतना ही विचार करते हैं जितना कि उनके बुद्धि-वाद के लिये आवश्यक है। हम तो यह भी कहने के लिये प्रस्तुत हैं कि भारतीय आर्ष सृष्टिविज्ञान की दृष्टि से आयुर्वेद सम्मत सृष्टिविज्ञान ही स्वीकार करने योग्य है।

उपनिषदों में भी कुछ अध्यात्म प्रधान हैं तो कुछ सृष्टिविज्ञान प्रधान। सृष्टिविज्ञान प्रधान उपनिषद् अधिक प्राचीन हैं। प्रजापति-वाद और पुरुष सूक्त, सृष्टिविज्ञानप्रधान उपनिषद् ही हैं जिनका कि वेदों में उल्लेख है। इनके अतिरिक्त तीन उपनिषदों का आयुर्वेद में उल्लेख है। इनको वातकलाकलीय, आत्रेयभद्रकाप्यीय और यज्जः पुरुषीय कहते हैं। इन परिषदों पर से ही आयुर्वेद दर्शन का समुचित ज्ञान हो सकता है अतः इन पर अधिक विचार करना आवश्यक है।

चरक संहितांतर्गत उक्त परिषदों के काल निर्णय के लिये यह ध्यान में रखना चाहिये कि इनका अयोजन पुनर्वसु आत्रेय के समय में और उनकी अध्यक्षता में हुआ। पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश के गुरु थे और अग्निवेश के आश्रम में द्रोणाचार्य ने अध्ययन किया। पुनर्वसु, कृष्णात्रेय के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। व्यास ने इनको इसी नाम से संबोधित किया है। और इन परिषदों के समय वाल्हीक देश वैदिक संस्कारों से संस्कृत था।

इन परिषदों में जो ऋषि उपस्थित थे वे भिन्न २ सृष्टि विज्ञानों के समर्थक और अधिकांश भिन्न २ आयुर्वेदिक तंत्रों के प्रवर्तक थे। इनका लक्ष्य मुख्यत: भाव स्वभाव, आयु, पुरुष, रोग आदि सृष्टि विज्ञान संबंधी विषयों पर था। मालूम होता है कि सृष्टिविज्ञान प्रधान परिषदों में प्रायः आयुर्वेद तंत्र प्रवर्तक ही उपस्थित हुआ करते थे। किंतु जो शब्दादि तन्मात्राओं को कारण गुण मानते थे वे आयुर्वेद तंत्र प्रवर्तक नहीं थे। इन परिषदों का आयुर्वेद में संग्रह किया जाना स्वाभाविक है। पर आयुर्वेद का अध्ययन कभी सर्व साधारण का विषय नहीं रहा और इस कारण ही सर्व साधारण समाज इनसे अपरिचित रहा।

यज्ञः पुरुषीय परिषद् में जिन भिन्न २ सृष्टिविज्ञानों का उल्लेख है उनके स्वरूप, उत्थान, पौर्वापर्य, संबंध आदि पर विचार किया जाय तो तत्पूर्वकालीन सहस्रों वर्षों का वह वैज्ञानिक इतिहास उपलब्ध होगा जिसके कि आधार पर समस्त आर्षज्ञान विकास की कडियाँ क्रमशः जोडी जा सकती हैं। इसमें प्रधान आपत्ति यह है कि इनका विवरण अत्यंत संक्षेप में उपलब्ध होता है। फिर भी पूर्व संस्कारों को छोडकर सावधानी से अन्वेषण किया जाय तो इसमें भी सफल हो सकते है। इसके लिये सर्व प्रथम यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि सृष्टिविज्ञानों का यह नाटक शिष्य बुद्धि वैशद्यार्थ नहीं है बल्कि किसी समय इनका प्रचार था और इनके आधार पर आयुर्वेदिक तंत्र भी रचे गये थे।

आयुर्वेद के अभ्यासक भलीभांति जानते हैं कि आयुर्वेद के तंत्र (हेतु लिंगौषध) और मंत्र (दर्शन) विषयक कई विधानों में परस्पर विरोध और पारिभाषिक शब्दों में विभिन्नता है। हमारे मत

से इनका संबंध भिन्न २ सृष्टिविज्ञानों से है। इनको उन २ सृष्टि विज्ञानों के साथ जोडा जाय तो दोनों पर अधिक प्रकाश पडता है। यज्जः पुरुषीय परिषद् में जो ऋषि उपस्थित थे वे अन्य परिषदों में भी उपस्थित थे। उन परिषदों में उन्होंने जो वक्तव्य दिया है वह भी उनके सृष्टि विज्ञान पर प्रकाश डालता है। इस तरह अंतर्गत प्रमाणों के द्वारा उनका कुछ स्वरूप व्यक्त हो जाने पर वैदिक, औपनिषदिक, और तदनुकूल प्रमाणों की सहायता से भी इनका अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

उक्त पद्धति से जब इन सृष्टिविज्ञानों का अध्ययन किया गया तब यह ज्ञात हुआ कि आर्ष ज्ञानेतिहास में इन सृष्टि विज्ञानों का अस्तित्व अध्यात्म प्रधान दर्शनों और उपनिषदों के भी पहिले था। इनके पौर्वापर्य पर से यह भी ज्ञात होगा कि सृष्टिविज्ञानों की इस परंपरा में वैदिक सृष्टिविज्ञानों का संबंध कहां से शुरू होता है और आयुर्वेद को किस अर्थ में उपवेद कहा जासकता है। सिवाय संस्कार कर्ताओं ने आयुर्वेद प्रादुर्भाव विषयक औपदेशिक परंपरा का जो इतिहास दिया है वह कहां तक ठीक है। इसमें संदेह नही कि चरक संहिता में आयुर्वेद के नित्यत्व के विषय में जो यह कहा गया है कि "सोऽयमायुर्वेद; शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्ध लक्षणत्वत्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च इ०" उसकी यथार्थता इन सृष्टि-विज्ञानों पर से भली भांति विदित होसकती है।

यदि यह कहा जाय कि आयुर्वेद दर्शन,इन भिन्न २ सृष्टिविज्ञानों की गुंथी हुई माला है अथवा इनके सर्व सम्मत सिद्धांतों का निचोड है तो अनुचित न होगा। क्योंकि इन परिषदों में मुख्यतः इसी बात का यत्न हुआ कि पक्षराग को छोड कर एक निर्णय पर पहुंचा जाय

और उस निर्णय को आयुर्वेद सम्मत सृष्टिविज्ञान अथवा दर्शन कहा जाय। किंतु इस निर्णय को जानने के लिये यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'आयुर्वेद का तंत्र, आरंभ से लेकर अब तक द्रवगुण-कर्मों के जिस प्रकार के वर्गीकरण पर अवलंबित है उसका और अन्य सृष्टिविज्ञानों के सर्व सम्मत तत्वों का जिसमें समुचित समन्वय होसकता है वह ही पुनर्वसु आत्रेय के वक्तव्यों का और इन परिषदों का अंतिम निष्कर्ष हैं'। इसतरह हम इस निर्णय पर पहुंचे कि चरक संहिता के आरंभ में जिस 'त्रिभागात्मक सिद्धांत' का उल्लेख है वह ही आयुर्वेद का अंतिम निर्णीत सृष्टिविज्ञान अथवा दर्शन है।

इस त्रिभागात्मक सिद्धांत के अध्यात्म में प्रजापति वाद, षड् धातु वाद और आत्म वाद के अध्यात्म का समन्वय है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो अद्वैतसिद्धांत आचार्य के नाम पर प्रसिद्ध है उसकी भी झलक इसमें दिखाई देती है। इसमें आत्मा को ज्ञाता व कर्ता माना जाता है। प्रकृति, माया अथवा दृश्य का अलग उल्लेख नही किया जाता और न ज्ञातृत्व से कर्तृत्व का उदय ही माना जाता है। इनके मत से ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में जन्य जनक संबंध नही बल्कि अन्योऽन्यानुविधायित्व है। फलतः सत्व, रज, व तम को लघु, चल, व गुरु कहना इस सिद्धांत को स्वीकार नही। और यही कारण है कि इस सिद्धांत में सत्वादि गुणों से शब्द स्पर्शादि तन्मात्राओं की और उनसे आकाशादि कों की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। इस सिद्धांत की दृष्टि से आकाशादि पंच महाभूत, क्रमशः अप्रतीघातकत्व, चलत्व, उष्णत्व, द्रवत्व और खरत्व मात्र हैं। पर इन गुणों का भी समन्वय वायु, अग्नि, सोम संज्ञक धर्म्मों में अर्थात आत्मा के कर्तृत्व में होता है। ज्ञातत्व इससे बिलकुल भिन्न है। वह केवल सत्व रजस्तमा-

त्मक सत्व में परिणत होता है। इस सत्व के ही अवस्था विशेष मन व बुद्धि हैं। इसका तत्व संख्यान भी चतुर्विंशतिक अथवा पंचविंशतिक नही है। इस सिद्धांत के सात तत्व हैं; आत्मा, सत्व, रज, तम, वायु, अग्नि, और सोम। इन को प्राण भी कहते हैं। इस त्रिभागात्मक सिद्धांत का अधिक परिचय तो 'आयुर्वेद दर्शन के' पढने के बाद ही होगा। प्रस्तुत में हम इतना ही व्यक्त करना चाहते हैं कि आयुर्वेद का यह सिद्धांत अपने ढंग का निराला है।

अनुमान है कि इस सिद्धांत का अविकल रूप अग्निवेश और सुश्रुत के समय में तथा आगे भी कुछ पीढियों तक रहा होगा। अथवा यूं कह सकते हैं कि अग्निवेश और सुश्रुतकृत तंत्र जबतक अखंडित विद्यमान थे तबतक आयुर्वेद दर्शन भी व्यवस्थित रूप में था। किंतु जब इन तंत्रों के पन्ने बिखरने लगे तब उसकी भी दुर्दशा हुई।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि यज्जः पुरुषीय परिषद में जिस सत्ववाद और आत्मवाद का उल्लेख है उनको तदुत्तर काल में कापिल सांख्य और वेदांत का रूप प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त उस नव द्रव्यवाद का भी उत्थान हुआ जिसकी सामग्री यज्जः पुरुषीय सृष्टिविज्ञानों से ही इकठ्ठा की गई थी। ये शब्दादिकों को कारण गुण मानते थे और आयुर्वेद दर्शन के साथ इनका इस विषय में ही गहरा मत भेद था। एक ओर इनका प्रचार बढ रहा था तो दूसरी ओर आयुर्वेद के पन्ने बिखर रहे थे। यह तो स्पष्ट ही है कि इस दुरवस्था की तह में आयुर्वेद की अमृतमयी चिकित्सा नही थी बल्कि इन संप्रदायों के बुद्धिवाद को अस्वीकृत करने वाला उसका सृष्टि-विज्ञान था। और यह दुरवस्था सदियों तक होती रही।

इसके बाद संस्कारकर्ताओं का समय आया। संस्कारकर्ताओं ने यद्यपि प्रधान रूप से अग्निवेश और सुश्रुत तंत्रों का संहिती करण किया तथापि वे उनका स्वरूप यथा पूर्व न रख सके। इसके अनेक कारण हैं जिनका कि कुछ परिचय आयुर्वेद दर्शन को पढते २ भी होसकता है। चरक संहिता में नवद्रव्यवाद का और सुश्रुत संहिता में आत्मा को असर्वगत कहने वाले अंश का दिखाई देना यह सूचित करता है कि इनमें अन्यत्र के अंशों का भी संग्रह किया गया। संस्कारकर्ता यदि तत्पूर्व कालीन सृष्टिविज्ञानों पर उनके परस्पर विरोध पर और इस विरोध के कारण जो घटनाएँ घटीं उनपर ऐतिहासिक दृष्ट्या अधिक विचार करते तो उनके द्वारा दार्शनिक अंशों का अव्यवस्थित संग्रह न होता। संभव है कि सामायिक परिस्थिति ने उनको ऐसा न करने दिया हो।

इस समय आयुर्वेद दर्शन के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रगट किये जा रहे हैं। किंतु उक्त घटनाओं पर ध्यान दिया जाय तो अव्यस्थित बिखरे हुए दार्शनिक अंशों की व्यवस्थित संगति लग जाती है और फिर मत भेद भी नहीं रहता। इस आयुर्वेद दर्शन में उसके दार्शनिक अंशों की यथामति संगति लगाकर ही उसके सर्व सम्मत सिद्धान्त को जानने का यत्न किया गया है। अतः जनता रूपी जनार्दन से सविनय प्रार्थना है कि वह इसे एक बार अपनाले।

कई सज्जनों ने इसके पहिले ही इस विषय पर अपने विचार प्रगट किये हैं। उन विचारों में और इस आयुर्वेद दर्शन में प्रगट किये गये विचारों में अन्तर पड जाना स्वाभाविक है। फिर भी वे एक तो

पवित्र हृदय से प्रगट किये गये हैं दूसरे वे इसके पहिले प्रगट किये गये हैं अतः उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना हमारा कर्त्तव्य है। सिवाय उनके प्रति भी हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने समय २ पर अपनी बहुमूल्य सम्मति और सहायता प्रदान की। प्रेस के कर्मचारियों ने जिस सहूलियत से काम किया उसके लिये वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। भाषा विषयक त्रुटियों को तज्ञ इसलिये क्षमा करेंगे कि एक महाराष्ट्रीय के द्वारा की गई हिन्दी वाग्देवता की यह प्रेममयी पूजा है।

मिती चैत्र शु. १ सोमवार
वि० सं. १९९४
१२ अप्रेल १९३७.

महादेव चन्द्रशेखर पाठक.

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	४	प्रजाप्रति	प्रजापति
८	१०	तदनंतरं	तदंतरं
८	१०	काशिषति	काशिपति
१०	६	ह्वयते	ह्वृते
१५	३	चेतसू	चेतस्
२०	१६	यदार्थ	पदार्थ
३०	१५	कृर्तत्व	कर्तृत्व
३३	१२	सदश	सदृश
३८	७	भूभिषु	भूमिषु
३८	८	संख्येमकोत्तर	संख्यमेकोत्तर
३८	११	चक्षेत	चक्षते
३९	२	भूतांना	भूतानां
४०	१५	वगर्किरण	वर्गीकरण
४२	७	रसात्सावत्	रसास्तावत्
४३	४	भूघिष्ठै	भूयिष्ठै
४३	१८	गुणनां	गुणानां
४४	१५	ऽसमत्	ऽस्मात्
४४	२०	स्स्वचनुसरः	स्स्वनुचरः
४८	७	मघुर	मधुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९	१४	शारीर धातु	शारीर धातुओं
५७	१७	दृष्टया	दृष्ट्या
६२	२०	भतपंचक	भूतपंचक
७७	५	उष्णसहाः	उष्णासहाः
७७	८	प्रभता	प्रभूता
८३	४	शीतात्गाक	शीतात्मक
८६	१२	यत्रेधरः	यंत्रधरः
८९	१३	कांकायन थे	कांकायन
१०३	९	पंच	पंच धातु
१०५	१२	मता	मतो
११४	१३	मन का	मन को
१२४	२	ग्रजा	प्रजा
१२९	६	सष्टि	सृष्टि
१३०	१६	अकपित	अकुपित
१५२	११	पित	पितृ
१५३	६	विनिणर्यम्	विनिर्णयम्
१६८	३	साम	सोम
१६९	१९	घानष्ट	घनिष्ट
१७७	२०	एषा	एषो
१७८	१	इसका	इसको
१८४	२	ष्ठीवनादि	ष्ठीवनादि
१८६	१५	गभा	गर्भौ
१८७	२२	आमशय	आमाशय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९०	९	ापत	पित्त
१९०	१८	मुख	(मुख
१९०	२१	आभषवण •	अभिषवण
१९०	२३	Enxyms	Enzyms
१९१	१९	पष्टिक	पैष्टिक
१९२	१२	रजंक	रंजक
१९२	१९	अदृद	अदृष्ट
२०४	१	रक्ता	सिता, रक्ता.

शेष अशुद्धियों को कृपया तर्क से शुद्ध कर लिया जाय।

विषयानुक्रमणिका.

विषय प्रवेश.

परिशिष्ट

ग्रंथकर्ता

वैद्य महादेव चंद्रशेखर पाठक

श्री.

आयुर्वेद–दर्शन.

विषय प्रवेश.

इस आयुर्वेद–दर्शन में मुख्यत: इस बात पर विचार करना है कि 'भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के समय तक देह लोकरोगोत्पादक विशेषत: पुरुषरोगोत्पादक कारणों के विषय में आयुर्वेद में कितने भिन्न २ दार्शनिक संप्रदाय व उनके भिन्न २ मत प्रचलित थे और इनके विषय में अंतिम निर्णय क्या हुआ'।

दार्शनिक दृष्ट्या पुरुष रोगोत्पादक कारणों का विचार करने वाले ऋषियों के नाम चरक संहिता के 'यज्जः पुरुषीय,' 'आत्रेय भद्र काप्यीय' और 'वातकलाकलीय' परिषदों के विवेचन में उल्लिखित हैं और उनके सांप्रदायिक वक्तव्यों के अंश उक्त परिषदों के अतिरिक्त भी सर्वत्र अग्निवेश व आत्रेय के संवाद के रूप में उपलब्ध होते हैं। इनमें जो संप्रदाय वैदिक हैं उनका वैदिक मंत्रों में वर्णन है। सिवाय

इन संप्रदायों से संबंध रखने वाले कतिपय अंश सुश्रुत-संहिता अष्टांगसंग्रह आदि तंत्रों में भी दिखाई देते हैं। चरकाचार्य नागार्जुन आदि संस्कारकर्ताओं ने इन वचनों का इस कदर संहितीकरण किया है कि उसका विश्लेषण करके प्रत्येक संप्रदाय के भिन्न २ वक्तव्य को समुचित रूप से जानना कठिन है। फिर भी 'यज्जः पुरुषीय परिषद्' के आधार पर उन अंशों को जानने का हम यथामति सत्साहस करते हैं।

यह मानना अधिक संतोषजनक है कि यज्जः-पुरुषीय-परिषद् का आयोजन भारतीय युद्ध के पूर्व किसी समय हुआ। क्योंकि इस परिषद् में जो ऋषि उपस्थित थे उनमें से कतिपय के नाम ब्राह्मण ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। महाभारत के आदि पर्व में लिखित द्रोणाचार्य की जीवनी पर से यह ज्ञात होता है कि द्रोणाचार्य का अध्ययन कुलपति अग्निवेश के आश्रम में हुआ। उक्त अग्निवेश, यदि पुनर्वसु के पट्टशिष्य अग्निवेश ही हों तो यज्जः-पुरुषीय-परिषद् का समय युद्धपूर्व ही होगा। पुनर्वसु आत्रेय जो कि इस परिषद् के अध्यक्ष थे; त्रेतायुग के अंत तक ही 'युगधर्म' का विवेचन (च. वि. अ. ३) करते हुए दिखाई देते हैं। इस पर से भी यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके लिये द्वापर युग वर्तमान समय की घटना थी।

इसके अतिरिक्त दो बातों का और भी विचार करना होगा। पहिली यह कि यज्ज:-पुरुषीय-परिषद् में जिन दार्शनिक संप्रदायों का उल्लेख है वे सांख्य-वेदांत-न्याय-योग-सूत्र प्रतिपादित दर्शनों से प्राचीन मालूम होते हैं। अर्थात श्रीमद् व्यास के वेदांत सूत्रों की रचना यज्ज:-पुरुषीय-परिषद् के बाद हुई है। दूसरी यह कि यह परिषद् उस समय हुई जिस समय वाल्हीक देश में एक मात्र वैदिक संप्रदाय प्रचलित था।

यज्ज:-पुरुषीय-परिषद् में जिन दार्शनिक संप्रदायों का उल्लेख है उनके पौर्वापर्य का निश्चय करना जितना गंभीर है उतना ही आवश्यक है। इस विषय में मैं उनसे सहमत हूं जो कि यह प्रतिपादन करते हैं कि मानवीज्ञान की अभिवृद्धि क्रमश: और स्वाभाविकरीत्या पैदा होने वाली आवश्यकताओं के अनुसार हुई है। इस तरह देखा जाय तो सर्व प्रथम आधिदैविक दार्शनिकों का तत्पश्चात् आधिभौतिक दार्शनिकों का और तत्पश्चात् आध्यात्मिक दार्शनिकों का अभ्युत्थान स्वीकार करना स्वाभाविक है। यज्ज:-पुरुषीय-परिषद् की चर्चा में यह क्रम दिखाई नहीं देता और यह कोई आवश्यक भी नहीं है कि सभा समितियों में अपने ऐतिहासिक पौर्वापर्य के अनुसार ही आगे पीछे बोला जाय।

किसी समय (अथवा सर्व प्रथम) आयुर्वेद में वह सृष्टि विज्ञान प्रचलित था जिसका आरंभ सूर्य, चंद्र और वायु इन प्रत्यक्ष जागतिक चमत्कारों अथवा देवताओं से होता है। इन पर दृष्टि रखने वालों का संक्षेप में यह कथन था कि ' इनके कारण क्रमशः ऋतु, रस, दोष, देह इनकी उत्पत्ति होती है '। सारांश सचेतन सृष्टि, मनुष्य अथवा पुरुष, सूर्य, सोम, वायु इनका ही परिणाम है अर्थात ये ही पुरुष को पैदा करते हैं।

इस सृष्टि-विज्ञान का वास्तविक नाम हमको मालूम नहीं है और यह भी मालूम नहीं है कि इसके प्रवर्तक आचार्य कौन थे। सुभीते के लिये हमने इस सृष्टि–विज्ञान का नाम ' षड्रसवाद ' और इसके प्रवर्तकों का नाम ' षड्रसवादी ' रक्खा है। आगे यथा समय इस सृष्टि–विज्ञान के भिन्न २ अंशों पर हम अधिक विचार करेंगे।

अन्य अथवा तदुत्तरकालीन दार्शनिक, सचेतन सृष्ट्युत्पत्ति के संबंध में साधारणतः उक्त सृष्टिक्रम को ही स्वीकार करते थे पर उनका तत्व संख्यान, द्रव्यगुण और कार्य–कारण–भाव विषयक मत भिन्न २ था। अतः वे उक्त षड्रसवाद में अपने २ सिद्धांत के अनुसार संशोधन परिवर्तन करते थे और आपस में पुरुषोत्पादक कारणों के विषय में मतभेद भी रखते थे। यज्जः–पुरुषीय–परिषद्

का आयोजन मुख्यतः इनके पुरुष विषयक उक्त मतभेद को हल करने के लिये ही हुआ।

इस परिषद् में काशीपति वामक, (मुख्य प्रस्तावक) आत्मवादी पारीक्षि मौद्गल्य, सत्ववादी शरलोमा, रसवादी उर्फ त्रिधातुसिद्धांत-वादी राजर्षि वार्योविद, षड्धातुवादी उर्फ आद्यसांख्य हिरण्याक्ष कुशिक, परंपरावादी कौशिक, कर्मवादी भद्रकाप्य, स्वभाव उर्फ धातु-पंचकवादी भारद्वाज, प्रजापति-वादी वाल्हीक भिषक् कांकायन, कालवादी भिक्षु आत्रेय और त्रिभागात्मक सिद्धांत में इनका सब का समन्वय करने वाले अध्यक्ष पुनर्वसु आत्रेय सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त पुनर्वसु आत्रेय के पट्टशिष्य अग्निवेश भी उपस्थित थे।

यज्ञः–पुरुषीय–परिषद् में इनका संवाद उसी क्रम से हुआ जिस क्रम से हमने उनका नामोल्लेख किया है। किंतु आयुर्वेद क्षेत्र में उनका प्रवेश इसी क्रम से हुआ हो यह संभव नहीं है।

हमारी राय में आयुर्वेद के दार्शनिक क्षेत्र में सर्व प्रथम षड्रसवाद था। बाद स्वभाववाद, परंपरावाद, कालवाद और रसवाद उर्फ त्रिधातु-सिद्धांत इनका प्रवेश हुआ। षड्रसवाद को छोड दिया जाय तो इनमें स्वभाव अथवा धातु-पंचकवाद और त्रिधातु सिद्धांत ही अधिक प्रभावशाली थे। ये चेतना

धातु को स्वतः—सिद्ध नहीं मानते थे। इनके बाद आयुर्वेद क्षेत्र में षड्धातुवाद और प्रजापतिवाद का प्रवेश हुआ। ये आत्मा को स्वतःसिद्ध मानते थे। और इनके बाद आत्मवाद, सत्ववाद और कर्मवाद का आयुर्वेद के दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश हुआ।

उनमें कुछ पंचात्मक लोकपक्षीय और कुछ द्विधात्मक लोकपक्षीय थे। जैसा कि "लोको हि द्विविधः स्थावरोजंगमश्च। द्विविधात्मक एव आग्नेयः सौम्यश्च तद्भूयस्त्वात्। पंचात्मको वा।" (सु. सू. अ. १) इसमें भी स्वीकार किया गया है।

पंचात्मक लोकपक्षीय, लोक को आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इनमें विभाजित करते थे। किन्तु इनमें भी कुछ गुर्वादि गुणों को प्रधान मानते थे तो कुछ शब्दादि गुणों को। गुर्वादि गुणप्रधान पंचात्मक लोकपक्षीयों में भी एक संप्रदाय आकाशादि को गुर्वादि गुणवत् नित्य द्रव्य मानता था जैसा कि स्वभाववादी-भारद्वाज-संप्रदाय और दूसरा आकाशादिकों को नित्य द्रव्य नहीं अपितु चेतना धातु के अप्रतीघातकत्वादि गुण मानता था जैसा कि षड्धातुवादी हिरण्याक्ष संप्रदाय। शब्दादिगुण प्रधान पंचात्मक लोकपक्षीय, आकाशादिकों की उत्पत्ति शब्दस्पर्शादितन्मात्राओं से मानते हैं जैसा कि सत्ववादी।

द्विधात्मक लोकपक्षीय, लोक को अग्नीषोम संज्ञक धर्मद्वय में विभाजित करते थे जैसा कि अग्नीषोमवादी। इनका उत्थान षड्रसवाद में से हुआ और पर्यवसान कालवाद, त्रिधातु-सिद्धांत और प्रजाप्रति पक्षमें अर्थात त्रिधात्वात्मक लोकपक्ष में हुआ।

उक्त सब संप्रदायों में कुछ सत्व को शरीरोत्पन्न तो कुछ शरीर को सत्वोत्पन्न कहते थे। जो सत्व को शरीरोत्पन्न कहते थे वे चेतना धातु को स्वतःसिद्ध नहीं मानते थे।

यज्जः पुरुषीय परिषद् का वर्णन चरक संहिता के सूत्र स्थान अध्याय २५ में उपलब्ध होता है। उसके आयोजन के विषय में यह कहा गया है किः—

पुरा प्रत्यक्ष धर्म्माणं भगवंतं पुनर्वसुम्।
समेतानां महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा॥
आत्मेंद्रिय–मनोऽर्थानां योऽयं पुरुष संज्ञकः।
राशिस्तस्यामयानांच प्रागुत्पत्तिविनिश्चये॥

अर्थात प्राचीन काल में साक्षात् धर्म्ममूर्ति भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के पास महर्षि सम्मिलित हुए और उनमें आत्मा इंद्रिय मन अर्थ इनके राशिरूप पुरुष के प्राथमिक उत्पत्ति तथा रोग के विषय में इस प्रकार चर्चा हुई।

यहां पुरुष को जो आत्मा इत्यादि का राशि कहा गया है वह निर्णीतार्थ—प्रतिपादक नही है। किसी निर्णय के पूर्व जिस तरह की सामान्य भाषा बरती जाती है उसी तरह का यह विधान है। 'प्राक्' शब्द से यह सूचित होता है कि इस परिषद की चर्चा मुख्यतः इस बात का निर्णय करने के लिये हुई कि पुरुष की अथवा 'सचेतन सृष्टि' की उत्पत्ति का आरंभ किन कारणों से हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इस चर्चा का प्रधान विषय 'सचेतन सृष्टि' ही रहा है।

तदनंतरं काशिपतिर्वामकोवाचमर्थवित्।
व्याजहारर्षि समितिमभि-सृत्याभिवाद्यच ॥
किंनुस्यात्पुरुषो यज्जःस्तज्जास्तस्यामयाःस्मृताः।
नवा....

सब ऋषियों के सम्मिलित होने के पश्चात् काशिराज वामक आगे बढे और उन्होंने अभिवादन पूर्वक यह प्रश्न किया कि "पुरुष, किन कारणों से पैदा हुआ? और वह जिन कारणों से पैदा हुआ उन कारणों से उसको रोग पैदा होते हैं या नहीं?

....इत्युक्ते नरेंद्रेण प्रोवाचर्षीन्पुनर्वसुः।
सर्व एवामित ज्ञान विज्ञानाच्छिन्नसंशयाः ॥
भवंतश्छेत्तुमर्हंति काशिराजस्य संशयम्।

नरेंद्र के द्वारा इस तरह सवाल किये जाने पर (अध्यक्ष) पुनर्वसु ने सब ऋषियों के प्रति यह कहा कि ' आप सभी अपने अगाध ज्ञानविज्ञान के कारण संदेह रहित हैं। अतः काशिराज के संशय को आप मिटा सकते हैं।

इस पर ऋषियों में जो संवाद हुआ वह निम्न-लिखित हैं।

पारीक्षिमौद्गल्य का आत्मवाद

पारीक्षिमौद्गल्यः—सर्व प्रथम उत्तर देने के लिये आत्मवादी पारीक्षि मौद्गल्य उठे। उन्होंने कहा किः—

आत्मजःपुरुषो रोगाश्चात्मजाः कारणं हि सः।
स चिनोत्युप भुंक्तेच कर्म कर्मफलानि च।
न ह्यते चेतना धातोः प्रवृत्तिः सुख दुःखयोः॥

अर्थात पुरुष (कर्म पुरुष) आत्मा (अनादि पुरुष,) से पैदा होता है। रोग भी आत्मा से पैदा होते हैं। क्योंकि आत्मा, कारण है। वह ही कर्मों को करता है और कर्म फलों को भोगता है अथवा वह ही कर्मफलों को पैदा करता व भोगता है। बिना चेतना-धातु के सुख (आरोग्य) और दुःख (रोग) की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

इस पर से सर्व प्रथम जो बात स्पष्ट होती है वह यह कि मौद्गल्य के आत्मवाद में आत्मा को उदासीन नहीं माना जाता अपितु कारण, कर्ता, ज्ञाता, भोक्ता, माना जाता है।

आत्मवाद का विवेचन चरकसंहिता के शारीर स्थान के पहिले अध्याय में उपलब्ध होता है। वहां इसको

त्रयोविंशतिक प्रश्नोत्तरों के रूप में ग्रथित किया है और उसीमें कहीं २ षड्धातुवाद के मतों को भी शामिल कर दिया है। फलतः यह जानना कठिन है कि उसमें जिन आत्मसमर्थक युक्तियों का संग्रह किया है उनमें षड्-धातुवादियों की कितनी और आत्मवादियों की कितनी हैं।

आत्मवादियों का सृष्टिविज्ञान चतुर्विंशतिक है। वे कर्म-पुरुष को २४ धातुओं का समुदाय कहते हैं। तहां अव्यक्त (आत्मा या अनादिपुरुष) बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये आठ धातु 'प्रकृति' अथवा 'भूत प्रकृति' संज्ञक होकर मन, दश इंद्रिय और ५ अर्थ मिलकर सोलह विकार संज्ञक हैं।

अव्यक्त पुरुष के अस्तित्व के विषय में इनका कथन है कि "कर्ता और बोद्धा पुरुष का यदि अस्तित्व न माना जाय तो ज्ञान, अज्ञान, सत्य, असत्य, वेद, शुभाशुभकर्म, आश्रय, सुख, दुःख, गति, अगति, वाणी, विज्ञान, शास्त्र, जन्म, मरण, बंध, मोक्ष, इनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा"। "यदि उसको कारण न माना जाय तो उक्त ज्ञान आदि अहेतुक ही सिद्ध होंगे।" "और यदि उसको बोद्धा न माना जाय तो इनके विषय में न तो ज्ञान होगा और ज्ञानाभाव के कारण उनका प्रयोजन भी न रहेगा।" "अतः कारणज्ञों ने इसको 'कारण' कहा है"। "जो यह कहते हैं कि 'केवल

पंचधातु समुदाय ने आत्मानिरपेक्ष होकर देह का रूप धारण किया ' वे (स्वभाववादी) यह भी कह सकते हैं कि 'कुंभ-कार के बिना ही केवल मिट्टी, चक्र, दंड आदि से घट बनगया ' ! जो इस तरह का युक्तिवाद करते हैं वे आगम से बहिष्कृत हैं। सारांश जिन प्रमाणों द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है उनसे यह सिद्ध है कि चेतनाधातुपुरुष ही कारण है।

कुछ लोग अर्थात परंपरावादी यह कहते हैं कि "मातृ-पितृ परंपरा से पैदा होने वाले पुरुषों में यद्यपि सारूप्य रहता है और इस कारण उनको पूर्व सदृश भी कहा जाता है तथापि वे पूर्व के नही हैं; क्योंकि उनकी पैदाइश प्रति समय नवीन २ (शरीर का प्रत्येक अणु-अवयव नष्ट होता है और उसका स्थान नवीन अणु अवयव ग्रहण करता है) होती है। सारांश प्रत्येक प्राणी आत्म-तत्व रहित पंचधातु विकार समुदाय मात्र होने के कारण और इस समुदाय का परिणाम ही ' सत्व ' संज्ञक होने के कारण चेतना धातु पुरुष, न कुछ करता, न कुछ भोगता और न अस्तित्व ही रखता है।" इस तरह जो आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते उनके मत से एक के द्वारा किये हुए कर्म का फल दूसरा भोगता है या नहीं ? चूंकि जब कि प्रत्येक प्राणी अपने किये का ही फल भोगना चाहता है तब यह कहो कि अन्यकृत कर्म का फल अन्य नहीं

भोगता तो संतान में (अथवा नवागत अणु अवयव में) पैतृक विकारों का प्रादुर्भाव क्यों होता है ? अर्थात यदि वह प्रति समय नवीन है तब उसमें पूर्वांश की प्रतीति क्यों होती है ? और यदि यह कहा जाय कि वह अन्य कृत फल भोगता है तब उसको प्रति समय नवीन कहने के बजाय पूर्व का परिणाम कहना उचित है किंतु जब कि प्रत्येक प्राणी अपने किये का ही फल भोगना चाहता है तब इस तरह विधान करना भी अनुचित है। वास्तविक बात यह है कि परिणाम पानेवाले करणों (अणु अवयवों, इंद्रियों, अथवा शरीरों) में नवीनता या विभिन्नता होते हुए भी कर्ता, आत्मा नवीन नहीं अपितु वही रहता है। करणों में परिवर्तन होता है पर आत्मा में नहीं होता। कर्ता, करणों से युक्त होकर समस्त कर्मों का कारण है। तत्वज्ञों का यह निश्चित मत है कि समस्त भाव, प्रतिक्षण भग्न होते हैं; भग्नभाव पुनः पैदा नहीं होते और अन्यकृतकर्म, अन्य को भोगना नही पड़ता। नित्य पुरुष ही समस्त भावाभावों का कारण है। वह ही कर्म को करता व कर्मफल को भोगता है। वह बिना देह के भी अहंकार, कर्म, कर्मफल देहांतरगति और स्मृति इनसे युक्त रहता है।

कर्म पुरुष में आत्मा के परिचायक लक्षण भी उपलब्ध होते हैं। जैसा कि:—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसोगतिः ।
इंद्रियांतर संचारः प्रेरणंधारणं च यत् ॥
देशांतरगतिः स्वप्ने पंचत्व ग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणे नाक्ष्णा सव्येनापगमस्तथा ॥
इच्छाद्वेषः सुखंदुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः ।
बुद्धिःस्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः ॥
यस्मात्समुपलभ्यंते लिंगान्येतानिजीवतः ।
न मृतस्यात्मलिंगानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥
शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।
पंचभूतावशेषत्वात् पंचत्वं गतमुच्यते ॥

आत्मवादी आत्मा को यद्यपि कर्ता और ज्ञाता कहते हैं तथापि उनकी दृष्टि से कर्तृत्व और ज्ञातृत्व भिन्न २ नहीं हैं। वे कर्तृत्व का ज्ञातृत्व में ही समन्वय करते हैं अथवा ज्ञातृत्व के कारण ही कर्तृत्व स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि:—

चेतनावान् यतश्चात्माततः कर्ता निरुच्यते ।

अर्थात आत्मा चेतनावान् होने के कारण ही कर्ता कहा जाता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि 'जिसमें क्रिया रहती है वह कर्ता है' तो आत्मवादी इसको स्वीकार नहीं करते। क्योंकि वे स्पष्ट ही कहते हैं कि:—

अचेतनत्वाच्चमनः क्रियावदपि नोच्यते ॥

अर्थात मन, क्रियावान होते हुए भी अचेतन है अतः उसको कर्ता नहीं कहा जा सकता। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्वभाववादी, मन को 'चेतस्' कहते थे और सत्ववादी, सत्व को कर्ता कहते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि आयुर्वेद-दर्शन में आत्मा के कर्तृत्व और ज्ञातृत्व को अलग २ ही स्वीकार किया गया है। अस्तु।

आत्मवादी, दो प्रकार के पुरुष मानते हैं; एक अनादि पुरुष और दूसरा समुदायात्मक। इस विषय में उनका कहना है कि अनादि पुरुष उत्पत्ति रहित होकर समुदायात्मक पुरुष की उत्पत्ति होती है। क्योंकि समुदायात्मक पुरुष मोहेच्छा-द्वेष-कर्मज है। यह भी नियम है कि 'अकारणवत्' 'सत्' नित्य रहता है और कारणवत् 'सत' अनित्य। अतः अनादि पुरुष नित्य होकर समुदायात्मक अनित्य है। सिवाय नित्यत्व का ज्ञान भाव पदार्थ से नही होता अतः नित्यत्व, अव्यक्त रहता है और जिस का भाव पदार्थ से ज्ञान होता है उसको व्यक्त समझना चाहिये। केवल आत्मा ही अव्यक्त होकर शेष सब व्यक्त है"।

आत्मा, ज्ञाता है पर वह समुदायात्मक अवस्था में करणों (बुद्ध्यादि इंद्रियों) के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। करण यदि अविमल हों अथवा उनके साथ आत्मा का अयोग हो तो ज्ञान नहीं होता। जैसा कि गँदले जल में या मलिन

ऐने में प्रतिबिंब नही पडता। किंतु जब विमल करणों का कर्ता के साथ संबंध होता है तब कर्म, वेदना और बुद्धि की प्रवृत्ति होती है। क्योंकि भूतात्मा, (यह समुदायात्मक-पुरुषगत आत्मा की विशेष संज्ञा है) न तो अकेला कर्म में प्रवृत्त होता है और न अकेला फल ही भोगता है। यह सब करण संयोग पर निर्भर है बिना करण संयोग के कुछ नहीं होता। क्योंकि कोई भी भाव अकेला नहीं रह सकता, वह अहेतुक भी नहीं रहता और वह अपने परिवर्तनशीलता को भी त्याग नहीं सकता।

आत्मा विभु और एक है। ('असर्वगताः क्षेत्रज्ञाः' कहनेवालों का यह प्रतिवाद है) उपाधि-भेद के कारण तथा देह कर्मानुपाती मन के साथ नित्य संबंध होने के कारण उसमें यद्यपि अनेकता की प्रतीति होती है तथापि एक योनि-गत आत्मा को भी सर्व योनिगतही समझना चाहिये। साधारण अवस्था में वह भिन्न २ शरीर में भिन्न २ स्पर्शनेंद्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है और इस कारण ही उसे सर्वत्र का ज्ञान नहीं होता, इतनाही नहीं तो प्रति शरीर में भी केश नख आदि के जहां कि स्पर्शनेंद्रिय नही है; स्पर्श का ज्ञान नहीं होता तथापि मन को समाध्यवस्थापन्न किये जाने पर वह छिपी हुई वस्तु को भी देख सकता है।

समुदायात्मक पुरुष की उत्पत्ति के विषय में आत्म-वादियों का कथन है कि:—

जायते बुद्धिरव्यक्ताद्बुद्ध्याहमितिमन्यते।
परं खादीन्यहंकार उपादत्ते यथा क्रमम्॥

इसमें सिर्फ प्रकृतिसंज्ञक सप्तधातुओं के उत्पत्ति का विवेचन है। हमारी राय में यह उत्पत्ति क्रम, सौश्रुतिक 'तस्माद्-व्यक्तात्' से 'एषा तत्व चतुर्विंशतिर्व्याख्याता' तक के विवेचन से और सांख्यों के विवेचन से भिन्न है। इस भेद को जानना आयुर्वेद-दर्शन के अभ्यासकों के लिए अत्यावश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि अव्यक्त आत्मा से पैदा होने वाली बुद्धि आत्मवादियों के मत से भी सत्वरजस्तमात्मिका है। क्योंकि "अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः। रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत्परिवर्तते" इसमें रजस् और तमस् का स्पष्ट उल्लेख है। और जब कि यह बुद्धि ही अहंभाव में परिणत होती है तब अहंकार भी त्रिगुणात्मक है। किंतु इस त्रिगुणात्मक अहंकार के केवल रजस्तमोबहुल अंश से शब्द स्पर्शादितन्मात्राओं का व उनसे आकाशादिकों का पैदा होना आत्मवादियों को सम्मत नहीं है। उनका कहना है कि "सत्व-बहुल अहंकार से आकाश, रजोबहुल अहंकार से वायु, सत्वरजोबहुल अहंकार से अग्नि, सत्वतमोबहुल अहंकार से आप् और तमोबहुल अहंकार से पृथ्वी पैदा होती है"। आत्मवादियों के उक्त कथन का संग्रह यद्यपि चरक-संहिता में हो न सका तथापि सुश्रुत

संहिता में उसका संग्रह किया गया है। जैसाकिः- 'तत्र सत्व-बहुलमाकाशं, रजोबहुलोवायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्व-तमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथ्वी' इ.। सारांश आकाशादिकों की उत्पत्ति में अहंकार के जिस कदर के गुणबाहुल्य को आत्मवादी स्वीकार करते हैं वह उन संप्रदायों से भिन्न है जो यह कहते हैं कि 'भूतादेरपितैजस् साहाय्यात् पंचतन्मात्राणि' अथवा ' भूतादेस्तन्मात्रः सतामसस्तैजसादुभयम् '।

उक्त मतभेद से भी अधिक महत्वपूर्ण मतभेद यह है कि आत्मवादी, तन्मात्राओं का विशेषतः शब्दस्पर्शादि तन्मात्राओं का उल्लेख नहीं करते। यहां यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐतिहासिक दृष्ट्या आत्मवाद के पहिले षड्धातु-वादी आद्य-सांख्यों की उपपत्ति प्रचलित थी। उसमें आकाशा-दिकों को अप्रतीघातकत्वादि मात्र स्वीकार किया जाता था और गोचर गुणों का कार्य गुण के रूप में ही उल्लेख किया जाता था। अतः अधिक संभव यही है कि आत्मवादी भी षड्धातुवादियों के कथन से अधिक दूर न जाते होंगे। फिर भी जब कि आत्मवादी अपना कुछ न कुछ विशिष्ट मत प्रतिपादन करते ही थे तब इस विषय में भी उनका कुछ विशेष कथन होगा ही। इस दृष्टि से देखा जाय तो अधिक से अधिक यह संभव है कि वे आकाशादिकों की 'तन्मात्रता' केवल उनके धात्वर्थों में ही स्वीकार करते

होंगे और अप्रतीघातकत्वादिकों को तथा शब्दादिकों को उनके (अकाशादिकों के) क्रमशः लक्षण और गुण कहते होंगे। हमारे इस कथन की पुष्टि आत्मवादियों के एताद्विषयक विवेचन पर से भी होती है। आत्मवादियों ने महाभूतों का विवेचन इस प्रकार किया है:—

महाभूतानिखंवायुरग्निरापःक्षितिस्तथा।
शब्दःस्पर्शश्चरूपं च रसोगंधश्च तद्‌गुणाः॥
तषामेकोगुणः पूर्वो गुण वृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषुस्मृतः॥
खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतजसाम्।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिंगं यथा क्रमम्॥

और:—

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिन्हमेवच।
अर्थाः शब्दादयोज्ञेयागोचराविषयागुणाः॥

इन सब विधानों पर से यही सिद्ध होता है कि आत्मवादी लक्षणों या गुणों को 'कारण' या 'कारणगुण' नहीं मानते अपितु 'कार्यगुण' ही कहते हैं। किंतु जो संप्रदाय आकाशादिकों को शब्दादि तन्मात्र और शब्दादिकों को कारणगुण भी मानते हैं वे आत्मवादियों की अपेक्षा अर्वाचीन होकर उनका मत आत्मवादियों को मान्य नहीं है।

यहां यह भी सवाल उठता है कि आत्मवादी अप्रतीघातकत्वादि गुणों को प्रधान मानते थे या शब्दादि गोचर गुणों को ? इस विषय में यद्यपि निश्चय से कुछ नहीं कहा जासकता तथापि दो बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। पहिली यह कि आत्मवादी, कर्तृत्व को चेतना से भिन्न नहीं रखना चाहते और तदनुसार आत्मा से सर्व प्रथम बुद्धि का ही प्रादुर्भाव मानते हैं। दूसरी यह कि आत्मवादी अप्रतीघातकत्वादि लक्षणों का ज्ञान केवल स्पर्शनेंद्रियद्वारा जैसा कि 'लक्षणं सर्वमेवैतत्स्पर्शनेंद्रिय गोचरम् । स्पर्शनेंद्रियविज्ञेयः स्पर्शोहि सविपर्ययः'। इसमें बतलाया है; होना सूचित करते हैं। फलतः यह संभव है कि वे गोचरगुणों को प्रधान मानते हों। पर इनको वे कारणगुणत्वेन कदापि स्वीकार नहीं करते। अन्यथा आकाशादिकों को प्रकृति कहना भी व्यर्थ है।

इस तरह गर्भ में अव्यक्त से अन्य प्रकृतिसंज्ञक पदार्थ बनजाने पर इंद्रिय-रचना पैदा होती है। यह इंद्रिय-रचना भौतिक रहती है। इसके साधारण ग्यारह विभाग हैं; पांच कर्मेंद्रिय, पांच ज्ञानेंद्रिय और एक अतींद्रिय। इनको सामान्यतः 'करण' भी कहते हैं। इनके द्वारा भिन्न २ कर्मों में प्रवृत्ति और इंद्रियार्थों का ग्रहण होता है। आत्मा, जब तत्तदिंद्रियार्थ विषयक राग

से युक्त होता है तब (शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते विदिता-त्मनः। रूपरागात्तथा चक्षुर्गंधं घ्राण जिघृक्षया ॥) उक्त इंद्रियों की रचना होती है।

उक्त इंद्रियों में बुद्धि की 'वृत्ति'यों का संचार रहता है। इन वृत्तियों को ही 'सत्व' अथवा 'मन' कहते हैं। 'एकैकाधिक युक्तानि खादीना मिंद्रियाणितु। पंच कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते।' इसका आशय भी यही है। कुछ संप्रदाय इन वृत्तियों को इंद्रियों का परिणाम कहते थे किंतु आत्मवादी इनको आत्मा का ही गुण समझते हैं। जो संप्रदाय चेतना को इन वृत्तियों का परिणाम कहते थे वे इन वृत्तियों को अर्थात् सत्व को ही 'चेतस्' कहते थे। किंतु आत्मवादियों का कथन है कि सत्व, अचेतन है; उसको चेतनाधातु से चेतना प्राप्त होती है। चेतना प्राप्त होने पर ही सत्व स्वकार्य में प्रवृत्त होता है।

मन के अस्तित्व और रूप के विषय में यह कहा गया है कि:—

लक्षणं मनसोज्ञानस्याभावोभाव एव वा।
सतिह्यात्मेंद्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।
अणुत्वमथचैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ॥

अर्थात ज्ञान का न होना अथवा होना ही मन के अस्तित्व का लक्षण है। यह तो नित्य का अनुभव है कि जब अपना चित्त किसी गंभीर विचार में मग्न रहता है तब अपने को पास में रक्खी हुई घड़ी की टिक २ सुनाई नहीं देती और न इस बात का ही ज्ञान होता है कि सामने से गुजरी हुई व्यक्ति कौन थी। वास्तव में देखा जाय तो घडी के आवाज की लहरें उस समय भी अपने श्रवणगत द्रवों तक पहुंचती रहती हैं और सामने गुजरनेवाली व्यक्ति का प्रतिबिंब भी नेत्रगत आदर्श पटल पर पडता है सिवाय आत्मा का सान्निध्य रहता ही है फिर भी उस समय उन इंद्रियों में चित्त की वृत्तियों का अभाव रहने के कारण न तो टिक २ सुनाई देती है और न व्यक्ति ज्ञान होता है। किंतु जब मन की वृत्तियाँ ज्ञानेंद्रियों में संचार करती रहती हैं तब ज्ञान होता है। यहां आत्मवादियों का यह कथन भी ध्यान में रखना चाहिये किः—

आत्माज्ञः करणैर्योगाद्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते।
करणानामवैकल्यादयोगाद्वानवर्तते॥
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
तत्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा॥

सारांश ज्ञान के न होने और होने पर से मन का अस्तित्व सिद्ध होता है।

यह मन, आत्मा के सदृश महान् अर्थात सर्व-देह-व्यापक नहीं है, अपितु 'अणु' है। अणु होने के कारण वह एक ही समय में समस्त इंद्रियों में संचार नहीं कर सकता। जैसा कि उक्त उदाहरणों पर से भी सिद्ध होता है। उसी तरह वह एक है। इस पर यदि यह कहा जाय कि 'किसी फल को खाने के समय उसके स्पर्श, रूप, रस, गंध, कुरमुर शब्द आदि का जो ज्ञान होता है वह उसके महान् अथवा अनेक होने का परिचायक है' तो उसका उत्तर यह है कि मन अणु और एक होते हुए भी बडा चंचल है। उसकी चपलता के कारण ही उक्त सब प्रकार का ज्ञान एक ही समय में होने का भास होता है।

मन के कार्यों के विषय में यह कहा गया है कि:—

चिंत्यं विचार्यमूह्यंच ध्येयं संकल्प्यमेवच।
यत्किंचिन्मनसोज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥
इंद्रियाभिग्रहःकर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहोविचारश्चततः परंबुद्धिःप्रवर्तते ॥
इंद्रियेणेंद्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसाप्यूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा ॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥

सारांश निश्चय रहित ज्ञान को मन का कार्य कहते हैं। किंतु जो ज्ञान निश्चित रहता है वह बुद्धि का कार्य है। बुद्धि के विषय में यह भी कहा गया है किः—

या यदिंद्रियमास्थाय जंतोर्बुद्धिः प्रवर्तते।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा॥
भेदात्कार्येंद्रियार्थानां बव्ह्यो वै बुद्धयःस्मृताः।
आत्मेंद्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा॥
अंगुल्यंगुष्ठतलजस्तंत्री वीणानखोद्भवः।
दृष्टःशब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा॥

अंत में आत्मवादी कहते हैं किः—

बुद्धींद्रियमनोर्थानां विद्याद्योगधरंपरम्।
चतुर्विंशक इत्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः॥
रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनंतवान्।
ताभ्यांनिराकृताभ्यांतु सत्ववृद्ध्या निवर्तते।

अर्थात उक्त बुद्धयादि भावों का योगधर वह आत्मा ही है। जो इनके सब के परे रहता है। इस तरह चोवीस धातु ओं के इस राशि को समुदायात्मक, हेतुज अथवा मोहेच्छाद्वेष कर्मज पुरुष कहते हैं। संसार में जो अनंत पुरुष (प्राणी) दिखाई देते हैं उसका कारण रजोगुण व तमोगुण इनके न्यूनातिरेक से उक्त समुदाय के होने वाले अनंत प्रभेद हैं।

जब उक्त गुणद्वयों का बाहुल्य कम होता है और सत्व की अभिवृद्धि होती है तब यह संयोग नष्ट होता है। सारांशः—

अव्यक्ताद्व्यक्ततांयाति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते ॥

अर्थात सृष्टयारंभ में अव्यक्त आत्मा से ही समस्त जगत् व्यक्त होता है और प्रलय के समय पुनश्च अव्यक्त में ही समाजाता है। और यह परिवर्तन चक्र के सदृश वारंवार होता रहता है।

मालूम होता है कि आत्मवादी, केवल आत्मा के अस्तित्व और उसके पुरुषरोगोत्पादकत्व को सुप्रतिष्ठित करने के लिये ही आयुर्वेद क्षेत्र में प्रविष्ठ हुए। इनका आयुर्वेद के प्रायोगिक क्षेत्र में तनिक भी प्रवेश नहीं है और वह संभव भी नहीं था। क्योंकि इनके आत्मवाद में वातपित्तश्लेष्माओं का कहीं भी उल्लेख नही है और इनको उनका अस्तित्व भी मान्य नहीं है। यही कारण है कि पारीक्षिमौद्गल्य वातकलाकलीयपरिषद् में जिस में कि वातपित्तश्लेष्माओं के तात्विक रूप पर विचार हुआ; अनुपस्थित थे। आत्रेयभद्रकाप्यीयरसपरिषद् में भी ये अनुपस्थित थे।

शरलोमा का सत्ववाद

शरलोमाः—पारीक्षिमौद्गल्य के बाद शरलोमा ने कहा किः—

शरलोमातुनेत्याह न ह्यात्मात्मानमात्मना ।
योजयेद्व्याधिभिर्दुःखैर्दुःखद्वेषी कदाचन ॥
रजस्तमोभ्यांतुमनः परीतं सत्वसंज्ञकम् ।
शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणांच कारणम् ॥

अर्थात आत्मा को शरीर का तथा रोगों का उत्पादक कहना उचित नहीं है; क्योंकि दुःखद्वेषी आत्मा अपने आपको कदापि दुःख में नहीं डाल सकता । वास्तव में सत्व—संज्ञक मन ही जब रजोगुण तमोगुणों से व्याप्त होता है तब वह शरीर तथा रोगों की उत्पत्ति में कारण बन जाता है ।

इस पर से ज्ञात होता है कि सत्ववादी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी उसको कर्ता नही मानते बल्कि उदासीन मानते हैं । इस तरह एक को उदासीन व दूसरे को कर्ता मानना यह भी व्यक्त करता है कि सत्व-वादी, आत्मा व सत्व दोनो को अनादि मानते हैं ।

उक्त श्लोकद्वय पर से सत्ववाद के विषय में इससे अधिक अनुमान नही होसकता और यह भी निश्चय पूर्वक

नहीं कहा जा सकता कि चरकसंहिता में सत्ववादविषयक और कौन २ अंश हैं। किंतु साधारणतः यह प्रतीत होता है कि जिस बात का स्पष्टीकरण चरकसंहिता में उपलब्ध नहीं होता उसका सुश्रुतसंहिता में उपलब्ध होता है। सुश्रुतसंहिता में जिस पंचविंशतितत्वात्मक सृष्टि-विज्ञान का व प्रकृति-पुरुषवाद का उल्लेख है वह हमारी राय में सत्ववाद का ही उत्तर रूप है। अतः हम उसको यहां उद्धृत करते हैं। उसमें यह कहा गया है कि:—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजस्तमोलक्षण-मष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम, तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवोदकानां भावानाम्।

इसमें 'अव्यक्त' शब्द से त्रिगुणात्मिका प्रकृति की 'साम्यावस्था' का उल्लेख है। इस अव्यक्त को एक माना गया है और क्षेत्रज्ञों को बहुत। किंतु यह स्पष्ट नहीं है कि क्षेत्रज्ञों का यह बहुत्व, स्वरूपतः है या उपाधितः। आत्मवादी, आत्मा को 'अव्यक्त' कहते हैं और उस अव्यक्त से बुद्धि का प्रादुर्भाव बताते हैं, पर ये आत्मा या क्षेत्रज्ञ से अव्यक्त प्रकृति का पैदा होना स्वीकार नहीं करते अतः वे सृष्ट्युत्पत्ति का विवेचन अव्यक्त प्रकृति से आरंभ करते हैं। जैसा कि:—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिंग एव, तल्लिंगाच्च महत-स्तल्लिंग एवाहंकार उपद्यते । स च त्रिविधो वैकारिक-स्तैजसोभूतादिरिति ।

इस पर से यह ज्ञात होता है कि ये सत्व रज तम की साम्यावस्था को ' अव्यक्त ' और वैषम्यावस्था को 'महत्' अर्थात बुद्धि कहते हैं । इन के मत से गुणों में विषमता पैदा होना ही अव्यक्त से बुद्धि का पैदा होना है। आत्मवादी, साम्यावस्थ सत्वरजतमों को आत्मा के गुण कहते हैं और उनकी साम्यावस्था का ' अव्यक्त ' शब्द से अलग उल्लेख नहीं करते। बाकी महत् अथवा बुद्धि शब्द से आत्मवादी भी त्रिगुणों की वैषम्यावस्था को संबोधित करते हैं। त्रिगुणात्मिका बुद्धि से त्रिगुणात्मक अहंकार का पैदा होना दोनों को स्वीकार है। आगे इनका यह कथन है कि:—

तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजस् साहाय्यात् तल्लक्षणान्येव एकादशेंद्रिया ण्युत्पद्यंते। तद्यथा श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिव्हा घ्राणवाक् हस्तोपस्थ पायूपाद मनांसीति। तत्र पूर्वाणि पंच बुद्धींद्रियाणि, इतराणि पंच कर्मेंद्रियाणि उभयात्मकं मनः। भूतादेरपितैजस साहाय्यात्तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राण्युत्पद्यंते। तद्यथा शब्द-तन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गंधतन्मात्रमिति। तेषांविशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः। तेभ्यो भूतानि व्योमानिला-

नलजलोर्व्यः । एवमेषांतत्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता । तत्र बुद्धीं-द्रियाणां शब्दादयो विषयाः । कर्मेंद्रियाणां यथासंख्यं वचना-दानानंद विसर्ग विहरणानि ।

इसमें वैकारिक व तैजस गुणाधिक अहंकार से जिन इंद्रियों का पैदा होना बतलाया है वे भौतिक नहीं हैं अपितु ज्ञान के प्रकार हैं। उसी तरह भूतादि व तैजस गुणाधिक अहंकार से जिन तन्मात्राओं की पैदाइष बतलाई गई है वह भी ज्ञान के प्रकार हैं। इनके मत से आगे यह ज्ञान ही शब्दादि गुणों में और ये गुण भी आकाशादि द्रव्यों में परिणत होते हैं। तत्पश्चात् भौतिक इंद्रिय भी पैदा होते हैं। जो संप्रदाय ज्ञान को प्रधान मानते हैं और ज्ञान से ही कर्तृत्व का उदित होना स्वीकार करते हैं उनकी भाषा इसी प्रकार की होती है। आत्मवादी भी इस मत के हैं पर उनमें व इन में भेद यह है कि ये त्रिगुणात्मक अहंकार में गुणोल्बण दृष्ट्या दो प्रकार करके एक से एकादश इंद्रियों की व दूसरे से शब्दादि तन्मात्राओं की उत्पत्ति का विधान करते हैं। किंतु आत्मवादी, अहंकार के दो भेद नहीं करते और आकाशादि के उत्पत्ति के पूर्व तन्मात्राओं का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। इस मत भेद का स्पष्ट चित्र उनके प्रकृति संज्ञक आठ तत्वों के उल्लेख में भी दिखाई देता है। क्योंकि अष्टप्रकृतियों के विषय में इनका यह कथन है कि:—

अव्यक्तं, महान्, अहंकारः पंचतन्मात्राणि चेत्यष्टौप्रकृतयः।

अर्थात ये पंचतन्मात्राओंका प्रकृति संज्ञक तत्वों में और आकाशादिकों का (शेषाः षोडशाविकाराः) विकारों में उल्लेख करते हैं। किंतु आत्मवादी, ठीक इसके विपरीत अर्थात आकाशादिकों को प्रकृतिसंज्ञक और शब्दादि गुणों को विकृतिसंज्ञक मानते हैं। दार्शनिकों ने इस मतभेद पर परदा डालने का यत्न किया है पर हमारी राय से इसको छिपाना आवश्यक नहीं है।

तत्र सर्व एव अचेतन एष वर्गः। पुरुषः पंच विंशतितमः। सच कार्यकारणयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषस्य कैवल्यार्थं प्रवृत्ति मुपदिशंति क्षीरादींश्च हेतूनुदाहरंति।

अब कहते हैं कि अष्ट प्रकृति और षोडशविकार सहित चौबीस तत्वों का यह वर्ग 'अचेतन' है। और पुरुष पचीसवाँ है। वह, ('चेतनावान्' होने के कारण) विकार और प्रकृति-संज्ञक तत्वों का 'चेतयिता' है। पर तावन्मात्र से उसको कर्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि सारा कर्तृत्व, अव्यक्त प्रकृति को ही है। सिर्फ इस प्रकृति को जोकि अचेतन है; चेतना धातु के सान्निध्यमात्र की आवश्यकता है। जिस तरह बच्चे के सान्निध्य से माता के स्तन में दुग्ध का 'ओहा' आता है उसी तरह क्षेत्रज्ञ के सान्निध्य मात्र से अव्यक्त प्रकृति में तत्वोदय होता है।

इस कथन की पुष्टि शरलोमाने इन शब्दों में की है कि दुःखद्वेषी आत्मा अपने आपको कदापि दुःख में नही डाल सकता; सत्व ही सब कुछ करता धरता है। किंतु इस पर यह सवाल पैदा होता है कि जब कि आत्मा स्वयं होकर कुछ नही करता तो बंध मोक्ष का किसके साथ संबंध है ? सर्ग प्रलय का यह चक्र क्यों चलाया जा रहा है ? इसपर कहते हैं कि यह सब कुछ पुरुष के 'कैवल्यार्थ' अर्थात मोक्ष के हेतु हो रहा है। अस्तु.

अत ऊर्ध्वं प्रकृति पुरुषयोः साधर्म्य वैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा उभावप्यनादी, उभावप्यनंतौ, उभावप्यलिंगौ, उभावपिनित्यौ, उभावप्यपरौ उभौ च सर्वगताविति। एका तु प्रकृतिरचेतना, त्रिगुणा, बीजधर्मिणी, प्रसवधर्मिणी अमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तुपुरुषाश्चेतनावंतो, अगुणा, अबीजधर्मिणो, अप्रसवधर्म्मिणो मध्यस्थधर्म्मिणश्चेति।

इसमें प्रकृति पुरुष दोनों को अनादि कहा गया है। मालूम होता है कि चरक संहितांतर्गत "आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारंपर्यमनादिकम् । अतस्तयोरनादित्वात्किंपूर्वमिति नोच्यते" (च. शा. अ. १) इस विधान का संबंध इसी प्रकृति पुरुष वाद अर्थात ही सत्ववाद से है। ये असंख्य आत्माओं को स्वीकार करते हैं पर उनको सर्व गत भी कहते हैं। सुश्रुत संहितामें इस मत को 'परमत' इति

एके भाषंते' कहकर इसका निषेध किया गया है और यह कहा गया है किः—

नचायुर्वेदेषूपदिश्यंते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च असर्वगतेषुच क्षेत्रज्ञेषु पुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरंति। आयुर्वेदेत्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञानित्याश्च तिर्यग्योनि मानुष देवेषु संचरंति धर्माधर्म निमित्तम्। त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्मा श्चेतनावंतः शाश्वता लोहित रेतसोः संन्निपाते ष्वभिव्यज्यंते।

सारांश इसमें क्षेत्रज्ञों को 'असर्वगत' माना है और इसी को आयुर्वेदसम्मत कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि उक्त मत चरकसंहितांतर्गत आत्मवाद, सत्ववाद और षड्धातुवाद को स्वीकृत नही है पर इसमें भी संदेह नही है कि इस मतका आयुर्वेदमें बहुत प्राचीन समय से प्रचार है। क्योंकि इसका निषेध आत्मवादियोंने समाध्यवस्थापन्न मनका उदाहरण देकर किया है। सुश्रुतसंहिता में इसी के आगे यह कहा गया है कि 'यतोऽभिहितं पंचमहाभूत शरीरि समवायः पुरुष इति स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः'। इस परसे दो तर्क हो सकते हैं; एक यह कि षड्धातुवादियों के अंतर्गतही यह एक संप्रदाय था और दूसरा यह कि धातुपंचक वादियों मेंहि एक संप्रदाय ऐसा था जोकि परिणाम स्वरूप पुरुषों को असर्वगत मानता था। इसमें पहिला अधिक संभवनीय है। सिवाय यह भी संभव है कि आत्मा को असर्वगत मानने वाले उनका बहुत्व स्वरूपतः मानते थे।

सत्ववादियों का अथवा प्रकृतिपुरुषवादियों का मुख्य सिद्धांत यह है कि:—

'तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्वरजस्तमोमया भवंति, तदंजनत्वात्तन्मयत्वात्तद्गुणा एव पुरुषा भवंति'।

'कार्य सर्वदा कारण के अनुरूप होता है' तदनुसार आकाशादि धातु सत्वरजस्तमोमय हैं और कर्म पुरुष भी तद्गुण ही हैं क्योंकि इनकी अभिव्यक्ति इन गुणों से होती है और इनमें गुणों के पसारे के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

सुश्रुत संहिता में इस मत को 'इति एके भाषंते' अर्थात परमत बतलाया है। आयुर्वेद के प्रायोगिक क्षेत्र में आत्मवाद के सदृश इसका भी अधिक प्रवेश नहीं है।

शरलोमा, रसपरिषद् में और वातकलाकलीय परिषद् में उपस्थित नहीं थे।

वार्योविद का रसवाद और त्रिधातुसिद्धांत.

राजर्षि वार्योविदः—शरलोमा के प्रति वार्योविद ने कहा किः—

> वार्योविदस्तु नेत्याह न ह्येकं कारणं मनः ।
> नर्ते शरीरं शारीर रोगा न मनसः स्थितिः ॥

अर्थात सत्व को पुरुषरोगोत्पादक कहना उचित नहीं है। क्योंकि शरीरानिरपेक्ष सत्व कुछ भी नहीं कर सकता। सिवाय शारीररोग, शरीर (वातपित्तश्लेष्मा) के बिना हो ही नहीं सकते और ना ही सत्व की स्थिति हो सकती है।

जिस तरह मौद्गल्य आत्मा को और शरलोमा सत्व को पुरुष–रोगोत्पादक कहते हैं उसी तरह वार्योविद भी शरीर को पुरुषरोगोत्पादक कहते हैं। इस तरह यज्जः पुरुषीय परिषद् में क्रमशः आत्मा, सत्व और शरीर इस त्रयी के नितांत समर्थकों का उल्लेख किया जाना आयुर्वेद दर्शन के अंतिम निर्णय पर प्रकाश डालता है। आगे इस विषय में कहा ही जायगा अस्तु।

सत्ववादी, सत्व को ही मानसिक और शारीर रोगों का जनक कहते हैं। क्योंकि उनके मत से सत्व ही मन का और शरीर का जनक है। किंतु वार्योविद का कथन है कि शरीर के बिना सत्व की स्थिति ही नहीं है अर्थात सत्व, शरीर का परिणाम है। मानसिक रोगों में यद्यपि सत्व कारण है तथापि शरीरनिरपेक्ष सत्व उनको भी पैदा नहीं कर सकता। और शारीर रोग तो बिना शरीर के पैदा हो ही नही सकते; उनमें सत्व का कुछ भी अधिकार नहीं है। सरांश जब कि शारीर मानस रोगों का तथा सत्व का भी जनक शरीर है तब शरीर को ही सत्वोत्पादक और रोगोत्पादक कहना उचित है।

इस विवाद पर से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सत्व-वादी, सत्व को शरीर का जनक कहते थे तो ठीक उसके विपरीत शरीरवादी, शरीर को सत्व का जनक कहते थे।

हम आगे चलकर देखेंगे कि वार्योविद, अग्नीषोम लोकपक्षीय त्रिधातु-सिद्धांतवादी हैं। उनकी दृष्टि से शरीर त्रिधातुओं का बना हुआ है और सत्व या चेतना भी त्रिधातुओं का ही परिणाम है। सारांश त्रिधातु ही पुरुष व रोग को पैदा करते हैं। इनकी भाषा में 'शरीर' शब्द त्रिधातुओं का वाचक होकर 'पुरुष' शब्द प्राणी अथवा सचेतन सृष्टि का वाचक है। इस तरह सिद्धांत पक्ष में उनका यह कथन है कि त्रिधातुओं से

सचेतन सृष्टि पैदा होती है। फिरभी यज्जः-पुरुषीय-पारिषद् में उन्होंने 'रस'को पुरुषरोगोत्पादक कहा। जैसा कि:—

रसजानितु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधाः ।
आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्ति हेतवः ॥

अर्थात समस्त प्राणी और उनकी व्याधियाँ 'रस' से पैदा होती हैं। रस जलो में रहता है अतः जलों को भी सचेतन सृष्टि के उत्पत्ति में कारण कहते हैं।

वार्योविद के इस रस को जानने के पूर्व यह स्वीकार करना होगा कि यह रस उनके त्रिधातु-सिद्धांत की ही कोई वस्तु है। इस दृष्टि से देखा जाय तो आर्तविक जलों में रहनेवाला यह रस वही है जिसको श्रुतियों में 'सोम' शब्द से संबोधित किया है। वैदिक ऋषि, सचेतनसृष्टि की उत्पत्ति का संबंध सामान्यतः आर्तविक जलों के साथ प्रस्थापित करते ही थे। क्योंकि जहां आर्तविक जलों की संभावना रहती है वहां सचेतन सृष्टि की भी संभावना रहती है फिर भी उनका लक्ष्य जलगत उस ' धर्म्म ' पर था जो कि आर्तविक जलों के घटकों में प्रधान घटक है।

इस विषय में " सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो-मित्रोऽवरुणोऽग्निः। " (यजु० अ० ७ मं. १४) यह मंत्र मननीय हैं। इसमें यह कहा गया है कि सोम की विश्व

(सचेतन) रूप-धारिणी वह (आर्तविक जलरूपा) पहिली संस्कृति है जिसमें (घटक के रूप में) सोम, प्रधान होकर मित्र, वरुण और अग्नि भी हैं। सारांश सचेतन सृष्टि को पैदा करनेवाला आर्तविक जल जिन घटकों का मिश्रण है उनमें सोम ही प्रधान होकर सचेतन सृष्टि को पैदा करने के पूर्व आर्तविक जलों को पैदा करना उसका पहिला संस्कार है। इस सोम को ही 'अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यैरसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे' (यजु० अ०३१ मं०१७) इस मंत्र में 'रस' शब्द से संबोधित किया है। (आगे प्रजापतिवाद के विवेचन के समय सोम तथा जलों पर हम अधिक विचार करेंगे)

त्रिधातु-सिद्धांतवादी वार्योविद की दृष्टि से भी आर्तविक जल, वायु (मित्र वरुण) अग्नि और सोम इनका अर्थात त्रिधातुओं का ही मिश्रण है। और जलगत सोम को ही वे 'रस' शब्द से संबोधित करते हैं। यद्यपि सिद्धांत पक्ष में वे वायु-अग्नि-सोम इस त्रयी को पुरुषरोगोत्पादक कहते हैं तथापि यहां रसवाद का समर्थन करके उन्होंने यह व्यक्त किया है कि अचेतन द्रव्यों को सचेतन द्रव्यों में संगठित करनेवाला धर्म्म मुख्यतः जलगत रस अर्थात सोम ही है।

उक्त रस विषयक मत अग्नीषोमलोक-पक्षीयों का है। पंचात्मक लोक पक्षीयों में भी कुछ उक्त मत को स्वीकार करते

थे जैसा कि " सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्ष प्रभवाः प्रकृति शीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च । " (च. सू. अ. २६) इसपर से व्यक्त होता है । इसमें यद्यपि आर्तविक जलों का प्रधानता से उल्लेख है तथापि उनको ' अव्यक्त रस ' और सोमात्मक कहा ही है । किंतु कुछ जो कि सोम धर्म्म का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे; रस को आप्यगुण और जिव्हा वैषयिक भाव (अर्थात व्यक्त रस) कहते थे जैसाकि 'आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथा संख्येमकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः; तस्मादाप्यो रसः (सु. सू. ३० अ० ४२) और " एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यो यं तं पंचानामिंद्रियार्थानामन्यतमं जिव्हावैषयिकं भावमाचक्षेत कुशलाः स पुनरुदकादनन्य इति " । (च. सू. अ. २६) इन विधानों पर से सिद्ध होता है ।

उक्त रस विषयक मतभेद यहीं समाप्त नहीं हुआ । क्योंकि इस रस से सचेतन सृष्टि, जिस क्रम से आरंभ होती है उसमें भी एतन्मूलक मतभेद दिखाई देता है । अतःअब उस पर विचार करें ।

रसजन्य सचेतन घटक.

पंचात्मकलोक पक्षीय, चाहे फिर वे सोमसंज्ञक अव्यक्त रस के पक्षपाती हों अथवा आप्यगुण जिव्हा वैषयिक रस के; इस मूलभूत रस का आकाशादिकों के संसर्ग से सर्व प्रथम मूर्तियों में और पश्चात् मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय इन छः आस्वादों में परि-

णत होना स्वीकार करते हैं। जैसा कि 'तास्त्वंतरिक्षाद्भ्रश्य-मानाभ्रष्टाश्च पंचमहाभूतगुणसमन्विता जंगमस्थावराणां भूतांना मूर्तीरभिप्रीणयंति यासुमूर्तिषु षड्भिर्मूर्च्छंति रसाः। तेषां षण्णां सोमातिरेकात् (अन्यमते भूम्यंबुगुणबाहुल्यात्) मधुरोरसः। पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः। सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः। वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुकः। वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः। पवनपृथिव्यतिरेकात् कषाय इति। एवमेषां षण्णां रसानां षट्त्व-मुपपन्नमूनातिरेक विशेषान्महाभूतानां भूतानामिव जंगमस्था-वराणां नानावर्णाकृतिविशेषाः। षड्ऋतुकत्वाच्चकालस्य उपपन्नो महाभूतानाम् ऊनातिरेक विशेषः। (च. सू. अ. २६)

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि वर्षाजलगत रस का पंचमहाभूतों के गुणों से संबंध होकर स्थावर जंगम प्राणियों की जो 'मूर्तियाँ' पैदा होती हैं उनको पंचात्मक-लोकपक्षीय, 'षड्रसात्मक' कहते हैं अर्थात उनकी दृष्टि से 'मूर्ति' शब्द उन सचेतन द्रव्यों का वाचक है जो स्थावर जंगम प्राणियों के 'घटक' हैं। इन घटक द्रव्यों को वे छः आस्वादों में विभक्त करते हैं। उनका कथन है कि उक्त मूर्ति संज्ञक सचेतन आस्वाद, आर्तविकजलगत रस के साथ पंच-महाभूतों के गुणों का संबंध होकर बने हुए हैं।

अग्नीषोम लोकपक्षीय भी सोमसंज्ञक रस से सर्व प्रथम मूर्तियों का संगठित होना स्वीकार करते हैं। वैदिक

मत के अनुसार इन मूर्तियों (विशेषतः सचेतन द्रव्यों) के औषधि, अन्न, रेतस् और पुरुष ये चार प्रकार हैं जोकि क्रमशः पैदा होते हैं। आयुर्वेद में भिन्न २ दृष्टि से भिन्न २ प्रकार स्वीकार किये गये हैं। उदा० (१) दोष[1] व देह, (२) औषधि (व्हिजिटेबल) व पुरुष (एनिमल) और (३) गुणप्रसादाख्य-धातु व द्रव्यप्रसादाख्यधातु। इनमें अन्न व रेतस् का इस लिये उल्लेख नहीं है कि पहिले में औषधि व पुरुष दोनों का समावेश है और दूसरे का द्रव्य प्रसादाख्य धातुओं में अंतर्भाव है।

रस से सर्व प्रथम औषधि संज्ञक सचेतन द्रव्य पैदा होते हैं। ये अन्न व देह दोनों के घटक हैं। षड्रसवादी, इनको सामन्यतः ‘ दोष ’ कहते थे और इनका तथा अन्न का भी वर्गीकरण मधुरादि छः आस्वादों में करते थे। किन्तु जिनका लक्ष्य गुर्वादि गुणों पर अधिक था वे उनके गुरुत्वादि प्रधान स्वभाव के अनुसार उनका २० गुणों में वर्गीकरण करते थे। और इसी हेतु से उनको सामान्यतः ‘गुणप्रसादाख्य धातु, ’ ‘ शारीरधातुगुण ’ ‘ धातुगुण ’ अथवा ‘ आहार गुण ’ कहते थे। आगे इन गुणप्रसादाख्यधातुओं को ओज, तेज, धातुप्रसाद इन तीन विभागों में अथवा ओज व तेज

---

१ जिन पदार्थों में दूषित होने का अर्थात सडने का धर्म हो उनकी यह संज्ञा है। अचेतन द्रव्यों में सडने का धर्म नहीं है।

संज्ञक दोही विभागों में विभक्त किया जाता था। सिवाय गुर्वादि गुणों में भी परिवर्तन और संख्या वृद्धि का यत्न हो रहा था। इन गुण प्रसादाख्य धातुओं के विविध संयोगसे ही द्रव्य प्रसादाख्य धातु बने हुए हैं जिनके कि समुदाय को देह अथवा पुरुष कहते हैं। अस्तु.

अग्नीषोमवादी, जो कि ओषधि-संज्ञक सचेतन द्रव्यों का गुर्वादि गुणों में वर्गीकरण करते थे; षड्रस प्रयुक्त वर्गीकरण स्वीकार नही करते थे। उनका कहना था कि उक्त मधुरादि आस्वाद, गुणमूलक हैं। जैसा कि 'अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः; सौम्या आग्नेयाश्च। तत्र मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः। कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। मधुराम्ललवणाः स्निग्धागुरवश्च। कटुतिक्त कषायारूक्षालघवश्च। सौम्याः शीताः। आग्नेयाश्चोष्णाः। (सु. सू. अ. ४२)

वार्योविद जोकि गुर्वादि गुण प्रधान अग्नीषोम लोक पक्षीय हैं; ओषधि वर्ग का गुर्वादिगुणों में वर्गीकरण करते थे। मधुरादि आस्वादों को ये भी गुण मूलक ही कहते थे। जैसा कि उनके रसपरिषदस्थ "षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः, गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः" इस वक्तव्य पर से सिद्ध होता है। षड्रसवादियों के प्रति उनका यह भी कथन था कि जब कि इन गुणों के द्वारा ही षड् रस, शारीर-द्रव्यप्रसादाख्य धातुओं के वृद्धिक्षय में कारण हैं तब षड्

रसों को साम्य वैषम्य कर कहने की अपेक्षा गुर्वादि गुणों को ही साम्य वैषम्य कर कहना उचित है।

षड्रसवादी षड् रसों के द्वारा और गुर्वादिगुण प्रधानतावादी गुणों के द्वारा धातुओं के वृद्धिह्रास अथवा साम्यवैषम्य का जिस प्रकार वर्णन करते थे उसको हम क्रमशः उद्धृत करते हैं। षड्रसवादियों का कहना था किः—

'रसास्तावत् षट्, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः। ते सम्यक् उपयुज्यमानाः शरीरं यापयंति। मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोष प्रकोपनायोपकल्पयंति। दोषाः पुनस्त्रयो, वातपित्तश्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवंति। विकृतिमापन्नास्तु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयंति। तत्र दोषम् एकैकम् त्रयस्त्रयो रसा जनयंति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयंति तद्यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयंति; मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयंति। कटुकाम्ललवणाः पित्तं जनयंति; मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयंति। मधुरालम्लवणाः श्लेष्माणं जनयंति; कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयंति। रसदोष सन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः **समान गुणाः समान गुण भूयिष्ठा** वा तेन तान् अभिवर्धयंति। **विपरीत गुणास्तु विपरीत गुणभूयिष्ठा** वा शमयंत्यभ्यस्यमानाः। इत्येतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेण असंसृष्टानाम् त्रित्वंच दोषाणाम्। संसर्ग विकल्प विस्तरो हि एषामपरिसं-

ख्येयो भवति, विकल्पभेदापरिसंख्येयत्वात् ' (च. वि. अ. १) और गुर्वादि गुणप्रधानता वादी कहते थे कि:—

' धातवः पुनः शारीराः समान गुणैः समान गुण भूयिष्ठैर्वाप्याहरविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवंति, ह्रासंतु विपरीत गुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारविहारैरभ्यस्यमानैः। तत्र इमे शरीरधातु गुणाः संख्या सामर्थ्य रूप करा[१]ः। तद्यथा-गुरु लघु शीतोष्ण स्निग्ध रूक्ष मंद तीक्ष्ण स्थिर सर मृदु कठिन विषद पिच्छिल श्लक्ष्ण खर सूक्ष्म स्थूल सांद्र द्रवा[२]ः। तेषु ये

१ इसका अर्थ यह है कि गुर्वादिगुणसंज्ञक गुणप्रसादाख्य-धातु ही रसादि शुक्रांत धातुओं के घटक अथवा उत्पादक हैं (परिणामतस्त्वाहारगुणाः शरीरगुण भावमापद्यंते)। क्योंकि इनके वैविध्य (संख्या) पर उनका वैविध्य, इनके सामर्थ्य पर उनका सामर्थ्य (कार्य) और इनकी आकृति पर उनकी आकृति अवलंबित है। सुश्रुतसंहिता में भी यह कहा गया है कि:— ' गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा। स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् द्रव्याणां द्रव्यहेतुकाः ' (सु. सू. अ. ४२)

२ सुश्रुत संहिता में गुर्वादिगुणों का विवेचन इस प्रकार है:—

अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणनां कर्म विस्तरम्।
कर्मभिस्त्वनुमीयंते नाना द्रव्याश्रया गुणाः॥
ल्हादनःस्तंभनःशीतो मूर्च्छातृट् स्वेद दाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात्पाचनश्च विशेषतः॥
स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्ण करस्तथा।
सूक्ष्मस्तद्विपरीतस्याद्विशेषात्स्तंभनः खरः॥

गुरुवस्ते लघुभिराहारगुणैरभ्यस्यमानैराप्यायंते; लघवश्च ह्रसंति। लघवस्तु लघुभिराप्यायंते गुरवश्च ह्रसंति। एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिः 'विपर्ययाद् ह्रासः।' (च. शा. अ. ६)

पिच्छिलो जीवनोबल्यः संधानः श्लेष्मलोगुरुः।
विषदो विपरीतोऽस्मात्क्लेदशोषण रोपणः॥
दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा।
सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहणः॥
लघुस्तद्विपरीतः स्यात्लेखनो रोपणस्तथा।
दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्म विशेषणैः॥
दशैवान्यान्प्रवक्ष्यामि द्रवादीं स्तान्निबोधमे।
द्रवः प्रक्लेदनः सांद्रः स्थूलःस्यात् बंधकारकः॥
श्लक्ष्णः पिच्छिल वज्ज्ञेयः कर्कशो विषदोयथा।
सुखानुबंधी सूक्ष्मश्च सुगंधो रोचनो मृदुः॥
दुर्गंधो विपरीतोऽसमत् हृल्लासारुचिकारकः।
सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो मदोयात्राकरः स्मृतः॥
व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्यपाकाय कल्पते।
विकासी विकसन्नेवं धातुबंधान्विमोक्षयेत्।
आशुकारीतथाशुत्वाद्धावत्यंभसि तैलवत्॥
सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतस्स्वचनुसरःस्मृतः।
गुणाविंशतीरित्येवं यथावत्परिकीर्तिताः॥

इसमें मंद स्थिर और कठिन के बजाय सुगंध, दुर्गंध और मद का उल्लेख है।

इन विधानों पर से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि षड्रसवादी, ओषधि व अन्न का आस्वादों में वर्गीकरण करके उनके द्वारा वातपित्तश्लेष्माओं के तथा शारीर-धातुओं के वृद्धि और ह्रास का होना स्वीकार करते थे। फिर भी उनका यह कथन था कि उक्त धातु साम्य अथवा वैषम्य रस गत गुणों के कारण होता है। इस पर से यह भी ज्ञात होता है कि षड्रसवादी, यद्यपि ओषधि अथवा अन्न संज्ञक सचेतन द्रव्यों का गुर्वादि गुणों में वर्गीकरण नहीं करते थे तथापि गुरुत्वादि स्वभावों का षड्रसों में अस्तित्व स्वीकार करते ही थे। इस पर गुर्वादि गुण प्रधानता वादियों का यह कथन था कि जब कि षड्रसों में गुरुत्वादि स्वभावों का अस्तित्व और उनके द्वारा साम्य वैषम्य का होना स्वीकार करना ही पड़ता है तब ओषधि व अन्न का इन गुणों में वर्गीकरण करना और उनको साम्य वैषम्य कर मानना ही उचित है।

पंचात्मक लोक पक्षीय दोनों प्रकार का वर्गीकरण करते थे फिरभी उनका अंतिम विश्लेषण पंचधात्वात्मक ही था और इसी हेतु से वे षडास्वादों की उत्पत्ति आकाशादिकों के न्यूनातिरेक से प्रतिपादन करते थे। इनमें जो द्रव्य प्रधानता-वादी थे वे द्रव्य को प्रधान मानते थे। उनका कथन था कि मधुरादि जिव्हा वैषयिक भाव, (अर्थ) गुरुत्वादि स्वभाव

और परादि प्रयत्नांत ये सब द्रव्य के गुण हैं। मधुरादि आस्वादों में जिन गुरुत्वादि गुणों का उल्लेख है वे आस्वादों में नहीं रहते (क्योंकि यह सिद्धांत है कि गुणों में गुण नहीं रहते) बल्कि आस्वादाधिकरण द्रव्यों में रहते हैं। और आस्वादों में उनका उल्लेख भी इसी अभिप्राय से किया गया है। अग्नीषोम लोकपक्षीयों के प्रति उनका यह भी कथन है कि भिन्न २ तंत्रकारों के भिन्न २ अभिप्राय रहते हैं उन अभिप्रायों को समझ बूझकर ही उनके विधानों का अर्थ लगाना चाहिये। (च. सू. अ. २६)

अग्नीषोमवादियों को इस तरह फटकारनेवाले चाहे धातु पंचकवादी ही क्यों न हों पर इसमें पुनर्वसु आत्रेय का भी अंग दिखाई देता है। और इसपर से यह भी ज्ञात होता है कि अग्नीषोमवादी अथवा त्रिधातु सिद्धांतवादी वार्योविद जो कि षडरसों को गुर्वादि गुणमूलक कहते थे; द्रव्य का प्राधान्यत्व स्वीकार नहीं करते थे। इस विवाद का रहस्य हम को तब तक ज्ञात नहीं होगा जब तक हम वार्योविद के त्रिधातु सिद्धांत का और पुनर्वसु आत्रेय के अंतिम निर्णय का अभ्यास न करलें।

त्रिधातु सिद्धांत का आरंभ

त्रिधातु सिद्धांत के सष्टि विज्ञान में और षड्रसवादियों के सृष्टिविज्ञान (सूर्य, वायु, चंद्र इनसे क्रमशः ऋतु, रस, दोष देह व बल की उत्पत्ति होती है) में बाह्यतः

सादृश्य है। चूंकि जबकि त्रिधातुसिद्धांत अग्नीषोमवाद का 'उत्तर रूप' है तब त्रिधातुसिद्धांत के विवेचन का आरंभ अग्नीषोमवाद के विवेचन से भी किया जा सकता है। किंतु आयुर्वेद क्षेत्र में इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा श्लेष्मपित्तवात विषयक ज्ञान के भित्तिपर हुई है अतः हम भी त्रिधातुसिद्धांत के विवेचन का आरंभ श्लेष्मपित्तवात विषयक ज्ञानेतिहास से करते हैं।

वातपित्त श्लेष्माओं का इतिहास

श्लेष्म, पित्त, वात, इनके विषय में सामान्यतः दो तरह से विचार किया जाता था; एक उन के शरीरगत उत्पत्ति स्वरूप कार्य आदि के विषय में और दूसरा उन के लोकगत अधिष्ठान स्वरूप कार्य आदि के विषय में।

प्रस्तुत में हम को इतना ही देखना है कि यज्जः पुरुषीय परिषद् के समय तक श्लेष्म पित्त वात विषयक ज्ञान में कितनी प्रगति हुई थी और वह किस क्रम से हुई थी। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस समय हमारे सामने श्लेष्म पित्तवात विषयक जो कुछ भी साहित्य है वह एक तो नष्टावशेष मात्र एवं अपर्याप्त है, दूसरे उसमें भिन्न २ संप्रदायों के परस्पर विरोधी वक्तव्य भी शामिल हैं और तिसरे उनको संस्कार कर्ताओं ने इस तरह संकलित किया है कि उनमें जिधर उधर एकवाक्यता ही प्रतीत हो।

यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य को श्लेष्मपित्तवात संज्ञक द्रव्यों का ज्ञान कब हुवा और कबसे उनके लिये श्लेष्म पित्त वात संज्ञाएं प्रचलित हुईं। पर यह निश्चित है कि इनकी उत्पत्ति को जानने का यत्न सर्व प्रथम षड्रस वादियों ने किया। षड्रस वादियों की दृष्टि से देहगत श्लेष्म पित्त वातों की उत्पत्ति अन्न के क्रमशः होनेवाले मधुर, अम्ल और कटु विपाकों से होती है। जैसा किः—

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुरात्प्राक्कफोद्भावः फेनभूत उदीर्यते॥
परंतु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्यपित्तमच्छमुदीर्यते॥
पक्काशयंतु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वन्हिना।
परिपिंडित पक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः।

(च. चि. अ. १९)

किंतु आगे यह भी ज्ञात हुआ कि आमाशय (महास्रोत के चंडुक तक के भाग) में स्त्रुत होनेवाला उदकरूप श्लेष्मा, मधुरप्रपाक का धातुरस से संबंध होकर पैदा होता है अर्थात वह धातुरस का 'मल' है। और पित्त भी रक्त का मल है। क्योंकि अम्लप्रपाक का रक्त के साथ संबंध होकर वह पैदा होता है। कटुप्रपाक (अन्नको जहां पिंडित अवस्था आती है वहां) से पैदा होनेवाले वायुको भी किट्ट का 'मल' कहा गया।

इनके स्वभावों (गुणों) का भी ज्ञान प्राप्त किया गया। यथा—

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिर पिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यांति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥
सस्नेहमुष्णंतीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥
रूक्षः शीतो लघुःसूक्ष्मश्चलोऽथ विषदः खरः ।
विपरीत गुणद्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥ (च.सू.अ.१)

यह ऊपर बतलाया गया है कि ये श्लेष्मपित्तवात जिन गुणों से युक्त हैं उनका वृद्धि-क्षय रसों अथवा रसगत गुणों के द्वारा किस प्रकार होता है।

उस समय शारीर-धातुओं का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता था, उसमें श्लेष्मपित्तवातों का स्थान क्या था और उनके द्वारा शारीर-धातु में किस रीति से साम्यवैषम्य का होना माना जाता था इन सब बातों का भी विचार होना चाहिये। निम्नलिखित 'पहिलें' वर्गीकरण में इसका निदर्शन किया गया है। यथा—

पहिला वर्गीकरण.

विविधमशित पीत लीढ खादितं जंतोर्हितमग्निसंधुक्षित बलेन यथा स्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं, कालवदन-

वस्थित सर्व धातुपाकम्, अनुपहत सर्व धातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्ण सुखायुषायोजयति, शारीरधातूनूर्जयति ।

धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुकुर्वंते । तत्र आहार प्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिवर्तते । किट्टात् स्वेद-मूत्रपुरीष,वातपित्तश्लेष्माणः, कर्णाक्षिनासिकास्य लोमकूप प्रजननमलाः, केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यंति । पुष्यंति हि आहार रसात् रसरुधिरमांस मेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि । पंचेंद्रियद्रव्याणि ' धातुप्रसाद ' संज्ञकानि, शरीरसंधिबंधपिच्छादयश्चावयवाः । ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यंतः स्वमानमनुवर्तंते यथा वयः शरीरम् ।

एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितौ आश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः । निमित्ततस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातुनां वृद्धिक्षयाभ्यां आहारमूलाभ्यां रसः साम्यमुत्पादयत्यारोग्याय । किट्टं च मलानाम् । एवमेव स्वमानातिरिक्ताश्चोत्सर्गिणः शीतोष्णपर्ययगुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यंते । तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययन मुखानि । यथा स्वं तानि यथा विभागेन यथा स्वम् धातून् आपूरयंति । (च. सू. अ. २८)

इस वर्गीकरण में उन्हीं वातपित्तश्लेष्माओं का उल्लेख है जो विपाकजन्य और ' मल ' हैं । और इसी हेतु से

उनको मल वर्ग में रक्खा है। वातपित्तश्लेष्माविषयक उक्त कल्पना यद्यपि संकुचित है फिर भी एक समय एवंगुण-विशिष्ट-वातपित्तश्लेष्माओं को हेतुस्कंध में प्रधान माना जाता था। उपलब्ध ग्रंथों में कई अंश* ऐसे हैं जिनमें इन मल संज्ञक वातपित्तश्लेष्माओं का ही विवेचन हैं।

किंतु तदुत्तरकाल में श्लेष्मपित्तवाताविषयक ज्ञान अधिक व्यापक हुआ। उक्त वर्गीकरण के कर्ता, श्लेष्मपित्त-वात शब्दों से मलों को ही संबोधित करते थे अतः वे ओज, ऊष्मा व धातु-प्रसाद को 'प्रसाद' वर्ग में रखते थे। किंतु तदुत्तरकालीन संप्रदायों को यह अभीष्ट नहीं था। वे श्लेष्मपित्तावातों में ओज, ऊष्मा व धातुप्रसाद का समावेश कर के उनकी सिर्फ 'प्रकुपित' अवस्था को ही मलवर्ग में रखना चाहते थे। किंतु उनके इस समन्वय को जानने के पूर्व यह जानना अत्यावश्यक है कि उस समय ओज, ऊष्मा व धातुप्रसाद के विषय में किस प्रकार का ज्ञान था। अतः अब उस पर विचार करें।

ओज, तेज, व धातुप्रसाद.

आयुर्वेद में ओज के सामान्यतः तीन प्रकार उपलब्ध होते हैं, (१) शुक्रमल, (२) पर, और (३) अपर।

(१) शुक्रमल संज्ञक ओजः—यह शुक्र का अंश विशेष है। वाग्भट इसको शुक्र का मल कहते हैं। (वा. शा.

अ. ३ श्लो. ६४) इसको बुद्धि-बल-वर्धक माना जाता है। इसकी रक्षा के लिये ब्रह्मचर्य का विधान है। वर्तमान वैज्ञानिक भी इसका शुक्र संबंधी अवयवों से स्रुत [अंतः स्रुत] होना, इसके द्वारा बुद्धींद्रिय [Nervous system नाडी संस्था] का पोषण होना और इससे उपपौरुष लक्षणों [मूछें, गंभीर स्वर इ०] का पैदा होना स्वीकार करते हैं।

२ पर ओजः—इस के विषय में यह कहा गया है किः-

यत् सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुराः॥ (च.सू.अ.३०)

पर ओज, गर्भ का 'आद्य सार' है। (अर्थात शुक्रार्तव अथवा बीज Spermatozoon फल Ovum संज्ञक अणु अवयवों Cells का और उनके संयोग से बननेवाले 'गर्भांकुर' Fertilixed Ovum का मूलघटक है। 'इसको जीवनायतनौजस्' Nucleo protein कहते हैं। यह शरीर गत समस्त 'अणु-अवयवों' में रहता है.) यह गर्भरस का अर्थात 'कलल' का भी सारभूत द्रव्य है। यह सर्व प्रथम हृदय में प्रविष्ट होता है और इस कारण ही हृदय, अन्य इंद्रियों के पहिले अपने कार्य में सम्यक् प्रवृत्त होता है।

यस्यनाशात्तु नाशोस्ति 'धारि' यत् हृदयाश्रितम्।
(च. सू. अ. ३०)

इसका जो हृदयस्थ अंश है वह सत्व, शरीर व आत्मा के संयोग को धारण करता है। अतः इसके नाश से जीवित ही नष्ट होजाता है।

प्रथमे जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम्।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगंधि प्रजायते॥ (च. सू. अ. १७)

प्राणियों के प्रथम शरीर में अर्थात 'गर्भांकुर' में यह घी के सदृश, मीठा, और धान के लावा के सदृश गंधवाला रहता है। किंतु

हृदि तिष्ठति यच्छुध्दं रक्तमीषत्सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति॥

(च. सू. अ. १७)

जो पर ओज हृदय में रहता है और जिसके नाश से जीवित नष्ट होता है वह सुरखी मायल पीला रहता है।

(२) अपर ओजः— इसके विषय में यह कहा गया है किः—

ओजोवहा शरीरेऽस्मिन् विधम्यंते समंततः।
येनौजसा वर्तयति प्रीणिताः सर्वजंतवः॥
यत् शरीर रस स्नेहः प्राणायत्र प्रतिष्ठिताः।
य हते सर्व भूतानां जीवितं नावतिष्ठते॥

(च. सू. अ. ३०)

---

१ इन अंशों को हमने जानबूझ कर आगे पीछे किया है।

जिस अपर ओज के कारण शरीरावयव तृप्त होकर प्राणी जीवित रहते हैं; जो धातुरस का सारभूत पदार्थ (पोषक द्रव्य, Protein) है; (प्रायः इसी हेतु धातु-रस को भी ' रसश्चौजः संख्यातः ' इस तरह ओज कहने की प्रथासी पड गई) जिसमें प्राणों (सत्व, शरीर, आत्मा अथवा सत्व रज तम वायु अग्नि सोम और आत्मा) का वास्तव्य रहता है और जिसके विना प्राणियों का जीवित रह नहीं सकता उसको ओजोवहा (धमनियाँ) शरीर में चारो ओर पहुंचाती हैं।

यह अन्न से प्राप्त होता है और इसी की विशुद्ध अवस्था को पर ओज कहते हैं।

ओज के उक्त विवेचन में उसके सामान्यतः तीन कार्यों का उल्लेख है; शरीर को तृप्त करना, प्राणों के संयोग को धारण करना अर्थात ही ' संबद्ध ' करना और उस संयोग को बनाये रखना अर्थात जीवन को कायम रखना। तदनुसार क्षीणौजस् पुरुष के लक्षणों के विषय में यह कहा गया है कि:—

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेंद्रियः ।
दुच्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवोजसः क्षये ॥

(च. सू. अ. १७)

इस पर से यह ज्ञात होगा कि ओज का मुख्य कार्य 'संबंध-विधान' है चाहे फिर वह अवयवों का हो अथवा प्राणों का।

अवयवों के सुसंबद्ध रहने से शरीर में बल रहता है और जब यह संबंध शिथिल होता है तब शरीर दुर्बल होता है। और यह दोनों बातें ओज के अस्तित्व और अभाव पर अवलंबित हैं। इसी हेतु से यह कहा गया है कि:—

देहस्यावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम् ।
तदभावाच्च शीर्यंते शरीराणि शरीरिणाम् ॥ (सु. सं.)

ओज के कारण देह के समस्त अवयव आपस में सुसंबद्ध हैं किंतु जब वह क्षीण होता है तब शरीरावयव असंबद्ध फलतः शिथिल रहते हैं। ओज की विस्रंसन, व्यापद् और क्षय संज्ञक अवस्थाओं में भी संधिविश्लेषण को प्रधान लक्षण माना जाता है।

ओजगत इस धर्म को आयुर्वेद में 'बल' कहते हैं। बल-संज्ञक इस धर्म को आरंभ में ओज से अभिन्न माना जाता था। अतः कुछ संप्रदाय ओज को ही 'तत्खल्वोजस्तदेव बलमुच्यते' (सु. सं.) इस तरह बल शब्द से संबोधित करते थे। किंतु जो संप्रदाय बल के तत्वतः पृथक् अस्तित्व का अनुभव करने लगे थे वे इस का अलग ही विवेचन करते थे। उनका कहना था कि 'बलेन स्थिरोपचित मांसता सर्व चेष्टास्वप्रतीघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यंतराणां च करणानामात्मकार्य प्रतिपत्तिर्भवति'। इसी तरह वे बल के

व्यापद् विस्रंसन और क्षय लक्षणों का भी पृथक् ही विवेचन करते थे। चरक-संहितांतर्गत बल-लक्षण भी यहां ध्यान में रखना चाहिये। जैसा कि:—

त्रिविधं बलमिति। सहजं, कालजं, युक्तिकृतं च। सहजं' यत् शरीर सत्वयोः प्राकृतम्। कालकृतं, ऋतुविभागजं वयः कृतंच। युक्तिकृतं, पुनस्तद्यदाहारचेष्टा योगजम्।

[च. सू. अ. ११]

ऊष्मा को भी पहिले वर्गीकरण के समय मल—संज्ञक पित्त से पृथक् माना जाता था। क्योंकि पहिले वर्गीकरण में 'ऊष्मा' को अन्न के विविध अंशों तथा शारीरधातुओं में रहनेवाला और अंतराग्नि से संधुक्षित होकर अपने २ अंशों तथा धातुओं का पाचन करनेवाला 'पदार्थ विशेष' सिद्ध किया गया है। इस तरह उस समय इस पदार्थ को अग्नि-संधुक्षित व पाचन-कर्ता स्वीकार करते हुए भी अग्नि और मलसंज्ञक पित्त दोनों से अलग ही रक्खा जाता था।

कुछ संप्रदाय 'ऊष्मा' शब्द का 'ताप' के अर्थ में प्रयोग करते थे जैसा कि 'मात्रामात्रात्वमूष्मणः' (च. सू. अ. १२) इसमें किया गया है। अतः इस पदार्थ को 'तेज' शब्द से भी संबोधित किया जाने लगा। जैसा कि 'ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणा श्चोक्ता देहाग्नि हेतुकाः' (च.चि.अ. १९) इसमें कहा गया है। सुश्रुत-संहिता

में इस को 'तेज' शब्द से ही संबोधित किया है और उसका ओज व बल के सदृश विवेचन किया है। यथाः—

तेजोप्याग्नेयं क्रमशः पच्यमानानांधातूनामभिनिर्वृत्तमंतरस्थं स्नेहजातं वसाख्यं स्त्रीणां विशेषतो भवति। तेन मार्दव सौकुमार्य मृद्वल्परोमतोत्साहदृष्टिस्थितिपाक्तिकांतिदीप्तयोभवंति। (सु. सू. अ. १५)

अर्थात तेज भी क्रमशः परिपाचित होनेवाले धातुओं से निकलनेवाला 'वसा'ख्य स्नेह समुदाय है। यह अग्नि-गुणात्मक होकर स्त्रियों में विशेष (विशिष्ट प्रकार का) रहता है। इस से तनुमार्दव, सुकुमारपन, रोम में मृदुता व अल्पता, उत्साह, दृष्टि स्थिति, पाचन, कांति इ. रहते हैं।

शरीरगत स्नेहजात को पाश्चात्य Fats अथवा Lipoids कहते हैं। इसी का एक उत्तम प्रकार Lecithin है। यह रक्त के श्वेत कणों में, अंडे में और भिन्न २ शारीररसों में विशेषतः अणुअवयवों के जीवनरस में रहता है। आयुर्वेदांतर्गत उक्त वसाख्य तेज भी इस से अतिरिक्त वस्तु नहीं है। नव्य-विज्ञान–दृष्ट्या भी यह अग्निगुणात्मक है। क्योंकि प्राणवायु, के संबंध से इसका ज्वलन होना और उससे ऊष्मा या ताप की वृद्धि होना विज्ञान सम्मत है। स्त्रियों में अर्थात स्त्रियों के 'फल' में यह विशेष प्रकार का होता है। गर्भांकुर में

परओज का जितना महत्व है उतना ही फलगत तेज का है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि शुक्रमलसंज्ञक ओज, जिस तरह पुरुष के शुक्र संबंधी अवयवों से अंतःस्रुत होता है उसी तरह स्त्रियों के फल संबंधी अवयवों (अंतःफल Ovary अथवा फलकोष Graafian follicles) से भी एक प्रकार के स्निग्ध द्रव्य का अंतःस्रुत होना संभवनीय माना जाता है। दृष्टि-स्थिति-विधायक तेज, तेजोजल [इसका 'तेजोजलाश्रितंबाह्यम्' सु. अ. उ. १ इस तरह उल्लेख है। इसको पाश्चात्य Aqueous Humours कहते हैं] में रहता है। दीप्तिकांतिकर तेज, मांसधरात्वक् के केश-गृहों के नीचे वाले पिंडों में रहता है।

इस तेज के भी व्यापद् विस्रंसन—क्षयसंज्ञक विकारों का अलग विवेचन उपलब्ध होता है।

धातु—प्रसाद को पहिले वर्गीकरण में पंचेंद्रियों का द्रव्य कहा गया है और उसके अनेक होने का भी स्वीकार किया गया है। वर्तमान समय के वैज्ञानिकों को इसके श्वेत और धूसर दो प्रकार उपलब्ध हुए हैं। इंद्रियव्यापकस्पर्शनेंद्रिय अथवा नाडीसंस्था Nervous system इन्हीं की बनी हुई है। पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, अतींद्रिय, बुद्धींद्रिय इनकी रचना इन्हीं द्रव्यों की है। इस तरह यह धातुप्रसाद, ज्ञान

व चेष्टा दोनों का वाहक है। पहिले वर्गीकरण में इसका उल्लेख शारीर प्रसादधातु में किया है।

यह मानी हुई बात है कि ओज, ऊष्मा [तेज] और धातुप्रसाद इनके विषय का इतना ज्ञान बहुत समय के अन्वेषण का फल है। अतः पहिले वर्गीकरण वालों को इन के विषय में कितना ज्ञान था यह तो तर्क से ही जानना उचित है। किंतु यह तो स्पष्ट ही है कि वे इनको जानते थे और इनको वातपित्तश्लेष्माओं से अलग रखते थे। पर जो संप्रदाय इनका वात्तपित्तश्लेष्माओं में समन्वय करना चाहते थे और इनकी सिर्फ कुपित अवस्था को ही 'मल' वर्ग में रखना चाहते थे उनके विधानोंपर अब विचार करना चाहिये।

ओज तेज ऊष्माओं का श्लेष्मपित्तवातों में समन्वय

षड्रसवादी, मधुरप्रपाकजन्य और रसविकृतिरूप उदक को पिच्छिल कहते ही थे। सचेतन द्रव्यों को गुर्वादि संज्ञाओं से संबोधित करनेवाले संप्रदायों की दृष्टि में यह पैच्छिल्य एक सचेतन द्रव्य प्रतीत हुआ। इसका वे समस्त शरीर में विविधरूप में अनुभव करते थे। और इसीके द्वारा अवयवों का जुडे हुए या लिपटे हुए रहना प्रमाणित करते थे। क्योंकि प्रत्येक संधि में इसका किसी न किसी रूप में अस्तित्व प्रतीत होगया था। और इसकी

विकृत अवस्था में संधि शैथिल्य का होना भी पाया गया था। इनकी दृष्टि इस द्रव्य के श्लेषण धर्म्म पर अधिक थी। इस श्लेषणधर्म को ये 'बल' कहते थे और उनको इस बल का ओजगत बल के साथ अभिन्नत्व प्रतीत होगया था। परिणाम यह हुआ कि वे इस द्रव्य में और ओज में भी अभिन्नत्व प्रस्थापित करने लगे। जैसा कि:—

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवोजः स्मृतः काये सचपाप्मोप दिश्यते॥

(सु. सू. अ. १७)

इस पर से व्यक्त होता है। इसमें प्रकृत अवस्थापन्न पिच्छिल-गुण श्लेष्मा को बलोत्पादक (अथवा बल) और उसकी विकृतावस्था को मल (अथवा मलवर्गीय) कहा गया है। सिवाय श्लेष्मा को ओज कहकर यह व्यक्त किया है कि ओज, श्लेष्मा का ही प्रकार है। सारांश पहिले वर्गीकरण के समय जिस ओज को श्लेष्मा से भिन्न माना जाता था उसका तदुत्तर काल में श्लेष्म शब्द में ही समावेश किया जाने लगा। अब जब कि ओज का घटक श्लेष्मा ही सिद्ध हुआ तब ओज गत बल को भी श्लेष्मा का धर्म्म मानना तर्कसंगत था। किंतु इस बल के विषय में हम आगे चलकर देखेंगे कि तदुत्तर काल में इस बल को वायु का प्रकार कहने लग गये थे।

वर्तमान वैज्ञानिकों के मत से 'शुद्धश्लेष्म' Mucin और कफकल्प Mucoids ओज के प्रकार माने जाते हैं। तदनुसार 'अणुश्लेष्म' Inter Cellular material 'कलल-श्लेष्म,' Jelly Like Tissue (जिसको कि आयुर्वेद में भी 'खेटभूतः' च. शा. अ. ४ अर्थात श्लेष्मा कहा गया है,) 'धातु श्लेष्म,' Areolar Tissus 'संधिश्लेष्म' Synovia आदि पदर्थों को ओज के प्रकार कहते हैं। किंतु उक्त आयुर्वेदिक संप्रदायों की दृष्टि में श्लेष्मा ही मूल-भूत 'गुण' है और उसीके प्रकार कफकल्प और औजस् द्रव्य हैं।

ऊष्मा अथवा तेज संज्ञक वसाख्य द्रव्य का भी 'पित्त' शब्द में अंतर्भाव किया गया। जैसा कि:—

पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान्कुरुतेबहून् ॥
(च. सू. अ. १७)

इस पर से व्यक्त होता है। यहां प्रकरणानुरोध से 'पित्तादेवो-ष्मणः' का अर्थ 'पित्तसंज्ञकवसाख्यद्रव्य' है। क्योंकि पहिले श्लोक में जिस कदर ओज संज्ञक सचेतन द्रव्य को श्लेष्मा में समन्वित करने का यत्न किया गया है उसी तरह इस श्लोक में वसाख्य सचेतन द्रव्य को पित्त में समन्वित करने

का यत्न हुआ है। पहिले वर्गीकरण में इस तेज संज्ञक वसा को ही 'अंतरग्नि से संधुक्षित होनेवाला ऊष्मा' कहा गया। और उसको अम्लप्रपाकजन्य पित्त से अलग रक्खा। किंतु तदुत्तर काल में जैसा कि उक्त श्लोक पर से विदित होता है; पित्त शब्द को अधिक व्यापक बनाया गया और उसमें ऊष्मा या तेज संज्ञक वसा का भी समन्वय किया गया।

इस वसाख्य पित्त का प्राणवायु के संबंध से प्रज्वलन होकर ताप की वृद्धि होना विज्ञानसम्मत है। संभव है कि यह बात भी ऋषियों के ध्यान में आ चुकी हो और तदनुसार वे ऊष्मा शब्द से 'ताप' को संबोधित कर के उसका पित्त शब्द में ही अंतर्भाव करने लगें हों। क्योंकि 'पित्तादेवोष्मणः' का उत्तानार्थ 'पित्तसंज्ञक ताप' होता है और वह भी अभिप्रेत है।

शरीरगत ऊष्मा चाहे तेजसंज्ञक वसा हो अथवा ताप हो पहिले वर्गीकरण के अनुसार अन्न में (यहां मूल में 'यथास्वम्' इतना ही कहा है। प्रत्येक संप्रदाय इसका अर्थ अपने २ वर्गीकरण के अनुसार कर सकता है। उदाहरणार्थ षड्रसवादी अन्न को षडास्वादों में विभक्त करते थे तदनुसार अन्नगत ऊष्मा षड्विध होगा किंतु कुछ संप्रदाय अन्न का पृथिव्यादि धातुपंचक या भूतपंचक में विश्लेषण करते थे तदनुसार ऊष्मा भी भौम-आप्य इत्यादि प्रकारों से पंचविध होगा)

व रसरक्तादि धातुओं में (अर्थात सप्तविध) रहता है और वह अंतराग्नि द्वारा संधुक्षित एवं बलवान् होकर निरंतर समस्त-धातुओं का पाक करता है। पहिले वर्गीकरण वालों की दृष्टि में इस पाचक ऊष्मा का अस्तित्व अम्लप्रपाकजन्य मलसंज्ञक पाचक रस में होना ही चाहिये। फिर भी वे इस ऊष्मा को और तज्जनक अग्नि को मलसंज्ञक पित्त से अलग ही रखते थे। किंतु जो संप्रदाय ऊष्मा को पित्त शब्द से संबोधित करने लग गये थे अथवा ऊष्मा (ताप) व अग्नि शब्द समानार्थक मानने लग गये थे वे अंतराग्नि को भी पित्त शब्द से ही संबोधित करना चाहते थे।

अंतराग्नि के स्वरूप के विषय में भी भिन्न-भिन्न मत दिखाई देते हैं। उदा० भारद्वाजीय धातुपंचकवादानुसार यह अग्निसंज्ञकधातु नित्य अचेतन द्रव्य है, षड्धातुवादानु-सार उष्णत्व लक्षण गुण है, शब्दादि गुण प्रधानतावादियों के अनुसार रूपगुणक महाभूत है तो अग्निषोम लोकपक्ष के अनुसार धर्म्म है। कुछ संप्रदाय इसके ऊष्मा के सदृश ही भौतिकाग्नि और धात्वग्नियों के रूप में प्रभेद करते थे। कुछ संप्रदाय इसका प्रधान स्थान नाभि भाग में तत्रत्य सोम-मंडलांतर्गत सूर्य मंडलों में मानते थे। कुछ संप्रदाय इसका पित्त से अलग अस्तित्व ही नहीं मानते थे। इनके मत से सूर्य मंडलगत अग्नि, प्रदीपवत् नहीं अपितु अवयव विशेष है।

जिस तरह ओज का श्लेष्म शब्द में और ऊष्मा का पित्त शब्द में समन्वय किया गया उसी तरह धातुप्रसाद का विशेषतः तद्गत 'करणवृत्ति' संज्ञक व्यापारों का वायु शब्द में अंतर्भाव किया गया। जैसा कि:—

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
तेनैव रोगा जायंते तेन चैवोपरुध्यते॥
(च. सू. अ. १७)

इस विधान पर से ज्ञात होता है। किंतु यह घटना यकायक नहीं हुई। अतः उस पर विचार करना आवश्यक है।

षड्रसवादी, अन्न के कटु प्रपाक से शरीर में वायु का प्रादुर्भाव मानते थे। यह वायु अथवा वायवीय द्रव्य उनकी दृष्टि से श्लेष्मा व पित्त के सदृश 'मल' ही था। वे इसको अन्नकिट्ट का अर्थात कटुप्रपाक के बाद अन्नरस का पिंडीभूत जो शेष अंश रहता है उसका मल कहते थे। इस वायु को वे शरीरगत समस्त चेष्टाओं का प्रवर्तक समझते थे। क्योंकि उस समय धातुप्रसाद को सिर्फ पंचेंद्रिय द्रव्य अर्थात् ज्ञानवाहक ही माना जाता था और इस पहिले वर्गीकरण में उसका अलग ही उल्लेख किया जाता था।

इसमें संदेह नहीं कि महास्रोत में अन्नके मधुर अम्ल और कटु ये तीन प्रपाक क्रमशः होते हैं और उनके द्वारा अन्न का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण हो जाता है। कटुप्रपाक

जन्य वायु, अन्न के विश्लेषण का अंतिम सूक्ष्मतर शेष अर्थात ही अन्न का सूक्ष्मतर घटक है। आगे यह भी मालूम हुआ होगा कि इस प्रकार का वायु अनशन व्यायाम आदि के कारण भी पैदा होता है अर्थात यह शारीर धातुओं का भी सूक्ष्मतर घटक है। इन प्रपाकजन्य वायुओं के अतिरिक्त श्वसनेंद्रिय के द्वारा प्रविष्ट होनेवाले और निकलने वाले वायु का भी ज्ञान था ही। संभव है कि किसी समय इन वायवीय द्रव्यों में किसी प्रकार का भेद न किया जाता हो किंतु जब श्वसनेंद्रिय द्वारा प्रविष्ट होने वाले और उच्छ्वसन द्वारा बाहर निकलने वाले वायुओं के नैसर्गिक आवश्यकता और अनावश्यकताओं पर ध्यान आकृष्ट हुआ तब प्रपाकजन्य वायुओं की अपेक्षा उसको अधिक महत्वपूर्ण एवं शारीरधातुघटक माना गया जो श्वास के द्वारा समस्त शरीर में संचार करता है। आगे इसको 'प्राण' शब्द से और प्रपाकजन्यों को 'उदान' व 'अपान' शब्दों से संबोधित किया जाने लगा। यद्यपि इस विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि यह निश्चय है कि आरंभ में कटु प्रपाक जन्य वायु को ही समस्त शारीर धातुओं का प्रधान घटक माना जाता था किंतु अंत में श्वसनेंद्रिय संचारी प्राण को ही प्रधान माना गया और शेष वायुओं को अपान व्यान उदान समान संज्ञाओं से संबोधित किया जाने लगा।

इसी तरह धातुप्रसाद विषयक ज्ञान में भी प्रगति हुई। धातुप्रसाद को आरंभ में केवल ज्ञानवाहक पंचेंद्रियद्रव्य कहते थे किंतु बादमें 'चेष्टावाहक' भी कहा जाने लगा। अब जब कि समस्त शारीर धातुओं का प्रधान घटक प्राणद्रव्य है तब धातुप्रसाद का भी प्रधान घटक प्राण ही होना चाहिये और शरीर गत समस्त चेष्टाएँ भी प्राण के कारण ही होना चाहिये। अतः धातुपंचकवादियों ने धातुप्रसाद का वायु में समन्वय करने के हेतु से उक्त 'सर्वाहिचेष्टावातेन' इत्यादि विधान किया।

इस तरह ओज ऊष्मा व धातुप्रसाद जैसे द्रव्यों का श्लेष्मपित्तवातों में अंतर्भाव किये जाने पर उनको (श्लेष्मपित्तवातों को) मलवर्ग में रखना अनुचित प्रतीत होने लगा और ओज ऊष्मा व धातुप्रसाद का पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता भी नहीं रही। सिवाय इस समय गुणप्रसादाख्यवर्ग के विषय में भी समुचित ज्ञान हो चुका था बल्कि यूं कहना चाहिये कि औजस् और तैजस् समस्त द्रव्य, गुणप्रसादाख्य वर्ग के ही रूपांतर प्रतीत होने लग गये थे। (विज्ञान दृष्टया भी औजस् तैजस् द्रव्य, गुणप्रसादाख्य वर्ग के ही दो प्रधान रूप हैं; इन रूपों में ही इस वर्ग की उपलब्धि होती है।) इन सब कारणों से शारीरधातुओं का दूसरी बार वर्गीकरण हुआ। जैसा कि:—

दूसरा वर्गीकरण.

शारीरधातवस्त्वेवं (अथवा शारीरधातुगुणाः) द्विविधाः संग्रहेण मलभूताः प्रसाद-भताश्च । तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युः । तद्यथा–शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथक्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्चधातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणो ये चान्येऽपिकेचित् शरीरे तिष्ठंतो भावाः शरीरस्योपघातायोपतिष्ठंते सर्वांस्तान् मले प्रचक्ष्महे । इतरांस्तु प्रसादे, गुर्वादींश्चद्रवांतान् 'गुण' भेदेन, रसादींश्च शुक्रांतान् 'द्रव्य' भेदेन ।
(च. शा. अ. ६)

इसमें बाधकर और अबाधकर की दृष्टि से मल व प्रसाद संज्ञक दो प्रधान वर्ग किये गये हैं और तदनुसार 'मल' वर्ग में केवल प्रकुपित अर्थात बाधकर वातपित्त श्लेष्माओं का उल्लेख किया है; अकुपित वातपित्तश्लेष्माओं का नहीं । प्रसाद वर्ग में गुणप्रसादाख्य और द्रव्य प्रसादाख्य इस तरह दो वर्ग किये हैं । तहां गुण प्रसादाख्य वर्ग के प्रकारांतर ही ओज, तेज व धातुप्रसाद हैं और समस्त द्रव्य-प्रसादाख्य वर्ग इनका ही बना हुआ है । चूंकि जब कि इस वर्गीकरण के 'मल' वर्ग में प्रकुपित वातपित्तश्लेष्माओं का स्पष्ट उल्लेख है तब अकुपित वातपित्तश्लेष्माओं का 'प्रसाद' वर्ग में स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये था । पर सचेतन द्रव्यों के इस वर्गीकरण में गुण प्रसादाख्य वर्ग का उल्लेख करना ही उचित

प्रतीत होता है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उस समय श्लेष्म, पित्त और वात इन शब्दों में ओज तेज व धातुप्रसाद जैसे सचेतन द्रव्यों का समावेश किये जाने के साथ २ उदक, अग्नि और वायवीय द्रव्य (प्राण) जैसे अचेतन द्रव्यों का भी संग्रह हो गया था। अर्थात वातपित्तश्लेष्म शब्दों से शरीरगत सचेतन व अचेतन दोनों प्रकार के मूलभूत द्रव्यों को संबोधित किया जाता था।

वातपित्तश्लेष्माओं की प्राकृत वैकृत अवस्थाएँ

इस तरह वातपित्तश्लेष्म शब्द अधिक व्यापक हो जाने के कारण उनकी सामन्यतः दो अवस्थाएँ स्वीकार की गईं। एक प्राकृत अथवा अकुपित और दूसरी वैकृत अथवा कुपित। और तदनुसार उनके कार्यों का भी निर्णय किया गया। जैसा किः—

नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफा स्त्रयः ।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेथ पंडितः ॥
उत्साहोच्छ्वास निःश्वास चेष्टा धातुगतिः समाः ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥
दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥
स्नेहो बंधः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥

वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धि र्वापि विरोधिनाम् ॥
दोष प्रकृति वैशेष्यं नियतं वृद्धि लक्षणम्।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चैवं परीक्ष्यते ॥
(च. सू. अ. १८)

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि इन अंशों में प्राकृत वैकृत शब्द सामान्यतः अकुपित कुपित के समानार्थक हैं और प्राकृत कार्यों में मुख्यतः उन कार्यों का उल्लेख किया गया है जिनकी भित्ति पर तदुत्तर काल में वातपित्तश्लेष्माओं के पांच २ प्रकार किये गये।

इसके बाद जब ऋषियों का ध्यान भिन्न २ मनुष्यों की भिन्न २ 'प्रकृतियों' पर और उनके कारणों पर आकृष्ट हुआ तब प्राकृत वैकृत शब्दों की व्याख्या भी बदल गई।

प्रकृति के विषय में यद्यपि सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया गया था कि "प्रकृति में जाति, कुल, देश, काल, वय और आत्मा (निज) के भावविशेष शामिल रहते हैं और तदनुसार वह जातिप्रसक्ता, कुलप्रसक्ता, देशानुपातिनी, कालानुपातिनी, वयोनुपातिनी तथा प्रत्यात्मनियता होती है" (च. इं. अ. १) तथापि इनकी सबकी तह में वे मुख्यतः प्रत्यात्मनियता को ही देखते थे।

इस प्रत्यात्मनियता को आरंभ में (क्योंकि बाद में इसके भी दो भेद किये गये और उनको क्रमशः दोषप्रकृति और महाप्रकृति कहा गया) 'दोषप्रकृति' कहते थे। क्योंकि गर्भावक्रांतिदृष्ट्या वातपित्तश्लेष्माओं का वंशांकुर गत न्यूनाधिक्य ही इसका कारण सिद्ध हुआ। इस विषय में सर्व प्रथम निम्नलिखित अंश मननीय है।

तद्यथा—शुक्रशोणितप्रकृतिं, कालगर्भाशयप्रकृतिं, आतुराहारविहारप्रकृतिं, महाभूतविकारप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एतानि हि येन येन दोषेण अधिकतमेन एकेन अनेकेन वा समनुबध्यते तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते। ततः सा सा दोषप्रकृति रुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्मात् वातलाः प्रकृत्या केचित् पित्तलाः केचित् श्लेष्मलाः। (च. वि. अ. ८)

इसमें यद्यपि शुक्रशोणित, गर्भाशय, काल, सगर्भा के आहारविहारों की भिन्न २ प्रकृतियों का जोकि तत्तद्गत वातपित्तश्लेष्माओं के विभिन्न सापेक्ष मान से ही बनी हुई होती हैं और गर्भ पर अपना २ संस्कार करती हैं; गर्भ में मिश्रण होकर वात पित्त श्लेष्माओंका जो एक सापेक्ष मान बनता है और जन्म से लेकर मृत्यु तक साधारण बना रहता है उसको गर्भादिप्रवृत्ता दोषप्रकृति कहा गया है। तथापि इनका लक्ष्य मुख्यतः शुक्र शोणित प्रकृति पर था। क्योंकि वह

सर्व प्रथम पैदा होती है; गर्भांकुर उसी से बनता है और अन्य प्रकृतियाँ इस पर ही आगे संस्कार करती हैं। प्रायः इसी हेतु से कुछ संप्रदाय उसीका प्रधानतया उल्लेख करते हैं। जैसा किः—

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः ।
प्रकृति र्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु । (सु.सं.)

गर्भावक्रांतिदृष्ट्या शुक्र शोणित शब्दों से बीज व फल संज्ञक अणु अवयव [अणुभूत, भूताणु, जीवाणु,] अभिप्रेत हैं। उक्त दोनों प्रकार के अथवा सभी प्रकार के अणु अवयवों[1]

---

[1] अणु अवयवों के विषय में यह कहा गया कि है 'शरीरावयवास्तु परमाणु भेदेन अपरिसंख्येया भवंति; अति बहुत्वात्, अतिसौक्ष्म्यात् अतींद्रियत्वाच्च' (च. शा. अ. ७) इन अगणित, अति सूक्ष्म, अतींद्रिय और सचेतन परमाणुओं का पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने 'अणुवीक्षण' यंत्र द्वारा ज्ञान प्राप्त किया है। इन जीवाणओं के आकार–प्रकार भिन्न २ धातुओं के तथा अवयवों के अनुसार भिन्न २ होते हैं। इनकी सूक्ष्मता १/३०० से १/१०००० अंश अंगुल के बराबर है। सामन्यतः इनके दो प्रकार हैं; सावरण और निरावरण उद्भिजों में सावरण रहते हैं और मनुष्यों में निरावरण। इनका शरीर मुरब्बे के सदृश बिलकुल मुलायम होता है। यह जीवनरस (Protoplasm) नामक द्रव्य का बना हुआ है। जीवनरस के बीच में मींगी के सदृश एक भाग है जिसको कि 'जीवनायतन (Nucleus) कहते हैं। सिवाय एक 'आकर्षक केंद्र (Attraction Sphere) नामक भाग है जो कि जीवनायतन अधघिरा रहता है। इस तरह जीवाणु के तीन प्रधान अंग हैं जीवनरस, जीवनायतन और आकर्षक केंद्र।

में सूक्ष्म घटकों के रूप में वात [धातुप्रसाद, तथा वायवीय द्रव्य] पित्त [तेज, व अग्नि] श्लेष्मा [ओज व उदक] ओंका अस्तित्व रहता है।

जीवनरस में एक जाली है जिसको ' जीवनकोष ' (Spongioplasm) कहते हैं। इसमें ' जीवन तरल ' [Hyalo Plasm] भरा रहता है। जीवनरस इन दो पदार्थों का बना हुआ है।

जीवनायतन पर एक आवरण है; इस आवरण के भीतर भी जालीदार कोष है और इस ' जीवनायतन कोष ' (Chromoplasm) में भी ' जीवनायतनरस ' (Nuclearsap) नामक तरल है। जीवनायतन के बीच में एक ग्रंथि सदृश भाग है; उसको ' जीवन-ग्रंथि ' (Nucleoli) कहते है।

आकर्षक केंद्र के मध्य में ' आकर्षक बिंदु ' (Centriole) नामक भाग है उसके आसमंतात् आरों की सी रचना है!

इन जीवाणुओं में ग्रहण, विसर्जन, प्रजनन, गमन आदि चेतना व्यंजक व्यापार होते हैं। उक्त व्यापारों का जीवनायतन के साथ घनिष्ठ संबंध है। एक अणु अवयव से दूसरे अणु अवयव का प्रजनन ' औद्भिज पद्धति ' से होता है। प्रजनन के समय प्रथम आकर्षकबिंदु विभाजित होता है। इस प्रकार को ' प्रत्यक्ष प्रजनन ' कहते हैं। कहीं २ प्रथम जीवनग्रंथि ही घुलती है और उसके जालीदार भाग के तंतु बनते हैं। इन तंतुओं को ' जीवनायतनमूलतंतु ' (Chromosomes) कहते हैं। इन तंतुओं के द्वारा होनेवाले प्रजनन को ' अप्रत्यक्षप्रजनन ' कहते हैं।

चूंकि जबकि बीज, फल और वंशांकुर भी विशिष्ट प्रकार के 'अणु-अवयव' ही हैं तब उनमें उक्त सामान्य बातों का रहना स्वाभाविक है।

वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा अणुअवयवों का रासायनिक पृथक्करण करके यह देखा गया है कि उसके जीवनरस में:-

---

बीज, लंबे व पूंछदार होते हैं। इनके शिर, ग्रीवा, धड, पूँछ, व पुच्छकेसर इतने अवयव रहते हैं। शिर, त्रिकोण, नुकीला और अन्य अंगों से मोटा रहता है। इसी में उसका जीवनायतन रहता है। ग्रीवा सकडी रहती है और इसी में इसका आकर्षककेंद्र रहता है। फल की अपेक्षा बीज बहुत सूक्ष्म रहता है यह अपनी पूंछ की हलचल से स्थानांतर करता है और नुकीले मुख से फल में प्रवेश करता है।

फल का आकार चपटा और गोल है। इसपर एक पारदर्शक कवच है; उसको 'फलधवलकवच' (Zona Pellucida) कहते हैं। फल में भी जीवनायतन, जीवनायतन ग्रंथि और आकर्षक केंद्र रहते हैं। इसके जीवनरस में वसांश (तेज) अधिक रहता है।

धान्वंतरों का कथन है कि 'शुक्र और आर्तव में अणु विशिष्ट भूतों का भी अस्तित्व रहता है'। ये अणु विशिष्ट भूत, बीज व फल ही हैं। और यह भी कथन है कि 'इन भूतों के परस्पर अनुग्रह, अनुप्रवेश और उपकार से पैदा होने वाला गर्भ, (अर्थात वंशांकुर) गर्भाशय में प्रविष्ट होता है। (सु. शा. अ. ३ ग. १-२) इन अनुग्रहादि व्यापारों के वास्तविक रूप के विषय में यह ध्यान में रखना चाहिये कि बीज, अपनी पूंछ की हलचल से फल को पकडने (ग्रह) का यत्न करता है। उसके लिये वह गर्भाशय में, फलवाहिनियों में और अंतःफल में भी प्रवास करता है। इस तरह फलग्रह हो जाने पर वह अपने नुकीले मुख से फल में अनुप्रवेश करता है। बाद में

(१) जल $\frac{3}{4}$ भाग रहता है। (२) इसमें जो पोषक द्रव्य (औजस्) रहता है वह बहुत महत्व का है। यह अन्य द्रव्यों की अपेक्षा इसमें अधिक भी रहता है। यह मूल में अंगार, (Corbon) उज्जन, (Hydrogen) मरुत, (nitrogen) मित्र (Oxygen) स्फुर (phosphorus) और गंधक इन वायवीय द्रव्यों से बनाहुआ है। (३) इसमें तेज या तैजस्द्रव्य (Lecithin) संज्ञक वसा रहती है। यहां की इस वसा में स्फुर वायु भी रहता है। (४) इसके अतिरिक्त इसमें क्षार भी रहते हैं।

उक्त ओज और तेज संज्ञक द्रव्य अन्यत्र भी रहते हैं पर उनमें स्फुरवायु नहीं रहता। किंतु जीवनरसगत इन द्रव्यों

उसका अनुप्रविष्ट भाग (शिर, ग्रीवा व धड का कुछ अंश) फलगत द्रव्य में घुलकर उस से 'बैजिक-जीवनायतनमूल,' और आकर्षकबिंदु सहित एक आकर्षक केंद्र बनता है। उक्त बैजिक जीवनायतनमूल, फलजीवनायतनमूल के पास जाता है और दोनों आपस में मिलकर घुल जाते हैं। इस घोल से एक जीवनायतन बनता है। इस संस्कार को 'उपकार' कहते हैं। यह नूतन जीवनायतन,बीज व फल के आधे२ किंतु समान 'जीवनायतनमूलतंतु'ओं से युक्त रहता है और इसके साथ आकर्षकबिंदु सहित दो आकर्षककेंद्र रहते हैं। इसी को 'वंशांकुर' कहते हैं। आगे इस वंशांकुर का औद्भिज प्रत्यक्ष प्रजानन होकर उसको क्रमशः वंशांकुरगुच्छ, कलल, पाकप्रक्रिया—द्वारा संतानिका, कला, स्रोत, गर्भ आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

में यह विशेषता है कि इनमें स्फुर वायु भी रहता है। जीव-नायतन में भी ओज रहता है किंतु इसमें स्फुर वायु की मात्रा कुछ अधिक रहती है।

•

प्रत्येक जीवाणु ओं में ग्रहणविसर्जनप्रजननादि व्यापार होते हैं। इन व्यापारों पर से आयुर्वेदिक दृष्टि को यह अनु-मान होना स्वाभाविक है कि इनमें किसी सूक्ष्मतम रूप में धातुप्रसाद का भी अस्तित्व है।

अणु अवयव विषयक उक्त विवेचन पर से यह भली-भांति विदित होगा कि अणुअवयवों की रचना वातपित्त-श्लेष्माओं की बनी हुई है। क्योंकि त्रिधातु सिद्धांत की दृष्टि से अणुअवयवगत उदक व ओज श्लेष्मसंज्ञक हैं; तेज व क्षार भी जिनमें कि अग्नि विद्यमान है; पित्त संज्ञक हैं और धातुप्रसाद व अंगार, मित्र आदि वायवीय द्रव्य, वात संज्ञक हैं।

बीजगत और फलगत वातपित्तश्लेष्मा ओं का गर्भांकुर में मिश्रण होकर एक सापेक्षमान बनता है। यह सापेक्षमान प्रत्येक गर्भांकुर में एकसाँ नहीं रहता किसी में वायु की, किसी में पित्त की और किसी में श्लेष्मा की अधिकता हो जाती है। कहीं २ दो २ दोषों की अधिकता अथवा सब दोषों की समता भी रहती है।

गर्भांकुरगत अथवा गर्भगत वातापित्तश्लेष्मा ओं की इन सापेक्ष मात्रा ओं को ही दोषप्रकृति कहते हैं। इन प्रकृतियों के प्रधान लक्षण निम्नलिखित हैं।

श्लेष्मप्रकृतिः—"श्लेष्मा हि स्निग्ध श्लक्ष्ण मृदुमधुरसार सांद्र मंद स्तिमित गुरु शीत पिच्छिलाच्छः। तस्य स्नेहात् श्लेष्मलाः स्निग्धांगाः, श्लक्ष्णत्वात् श्लक्ष्णाः, मृदुत्वात् दृष्टिसुखसुकुमारावदाताः, माधुर्यात् प्रभूत शुक्र व्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सांद्रत्वात् उपचित परिपूर्ण सर्व गात्राः, मंदत्वात् मंदचेष्टाहारविहाराः, स्तैमित्यात् अशी-घ्रारंभक्षोभविकाराः, गुरुत्वात् साराधिष्ठितावस्थितगतयः, शैत्यात् अल्पक्षुत्तृष्णासंतापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्ट सारबंध संधानाः तथा अच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नवर्ण-स्वराश्च। त एवं गुणयोगात् श्लेष्मला बलवंतो वसुमंतो विद्यावंत ओजस्विन आयुष्मंतश्च भवंति। (च. वि. अ. ८)

इसके अतिरिक्त सुश्रुत संहिता में यह भी कहा गया है कि कफप्रकृति पुरुष स्वप्न में कमल, हंस, चकवा इनसे युक्त (अथवा केवल भी) जलाशयों को देखता है।

इसका तापमान प्रायः ९६ से ९७॥ अंश तक रहता है, नींद में लार टपकती है और खुर्राटें लेता है। प्रतिश्याय, कास, श्वास, अग्निमांद्य इन व्याधियों की प्रवणता रहती है।

संतति में सारूप्यता पाई जाती है। स्वास्थ्य शिशिर और वसंत में बिगडा हुआ रहता है। कडुवा, चरपरा और तूरा ये रस हितावह रहते हैं।

पित्त प्रकृतिः—।पित्तं उष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रं अम्लं कटुकंच। तस्य औष्ण्यात् पित्तला भवंत्युष्णसहाः सुकुमारावदात गात्राः प्रभूतापिप्लव्यंगतिलकपिटिकाः क्षुत्पिपासावंतः क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः, तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्ण पराक्रमास्तीक्ष्णाग्नयः प्रभताशनपानाः क्लेशासहिष्णवदंदशूकाः,द्रवत्वात् शिथिल मृदुसंधिमांसाः प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च, विस्रत्वात् प्रभूतपूतिवक्षःकक्षास्यशिरःशरीरगंधाः कट्वम्लत्वात् अल्पशुक्रव्यवायापत्याः। त एवं गुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो ज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवंतश्च ॥

सुश्रुतसंहिता में यह विशेष कहा गया है कि इनके नख, नेत्र, जिव्हा, हथेली और तलवे विशेष लाल रहते हैं; मुंह में बार २ छाले आते हैं और स्वप्न में सोना, केसू के फूल, लाल कनेल, आग, बिजली, प्रकाश इनका दृश्य देखते हैं।

इनका तापमान ९७॥. से ९९ तक रहता है। यकृत्, प्लीह, क्लोम व पक्वाशय के व्यापार अधिक होते हैं। इन अवयवों में व्याधिप्रवणता रहती है। ज्वर, शिरोवेदना, रक्त-

विकार, फोडे फुन्सियाँ, मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह, हृद्रोग ये अधिक हुआ करते हैं। दस्त की हाजत इतनी होती है कि भगना पडता है। ये प्रायः उषःकाल के पहिले ही जाग जाते हैं। बडे स्नानप्रिय होते हैं। स्वास्थ ग्रीष्म व शरद् में खराब रहता है। प्रायः कन्या संतति अधिक होती है। और तिक्त रस से बहुत द्वेष करते हैं।

वात प्रकृतिः—वातस्तु रूक्ष लघु चल बहु शीघ्र शीत परुष विषदः। तस्य रौक्ष्यात् वातला रूक्षापचिताल्पशरीराः, प्रततरूक्षक्षामभिन्नसक्तजर्जरस्वराः, जागरूकाश्च, लघुत्वात् लघुचपलगतिचेष्टाहारविहाराः, चलत्वात् अनवस्थित संध्यस्थिभ्रूहन्वोष्ठ जिव्हाशिरः स्कंधपाणिपादाः, बहुत्वात् बहुप्रलापकंडरशिरा प्रतानाः, शीघ्रत्त्वात् शीघ्र समारंभ क्षोभविकाराः, शीघ्रोत्त्रास रागविरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, शैत्यात् शीतासहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेषकस्तंभाः, पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रुरोम नखदशनवदनपाणिपादांगाः, वैशद्यात् स्फुटितांगावयवाः, सतत संधिशब्दगामिनः। त एवं गुणयोगात् वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषाश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाधन्याः॥

सुश्रुत में विशेष यह कहा है कि वातप्रकृति अपने से ही बडबडाया करता है। और स्वप्न में अपने को उडता हुआ देखता है।

इनका तापमान ९७ से ९८ तक कमोबेशी हुआ करता है। मस्तिष्क, श्वसन संस्था, स्थूलांत्र, मूत्रबास्ति और अस्थियों में व्याधि प्रवणता रहती है। नाडीसंस्था, उत्तेजित और विषय ग्राहिता उत्तम किंतु स्मृति कम रहती है। बादलों के आने के पूर्व स्वास्थ्य बिगडा हुआ रहता है। जहां सर्दी गर्मी का अंतर बडा हो वहां स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

उक्त लक्षण एक दोषाधिक प्रकृति के हैं। इन पर से ही द्विदोषाधिक और समप्रकृति के लक्षणों का अनुमान करना चाहिये। सामान्यतः यह देखा गया है कि 'वातपित्त' प्रकृति के मनुष्यों में दो प्रकार हैं; एक वमन से बहुत घबराते हैं और दूसरों को नशा करने की आदत बहुत जल्दी लगती है और वह छुडाए नहीं छूटती। वातकफ-प्रकृति मनुष्य वमन से प्रसन्न रहते हैं। उनको हर ऋतुओं के संधि में प्रतिश्याय होजाता है। इनको फोडा फुन्सी बहुत कम होते हैं। कफपित्तप्रकृति के मनुष्य बडे कष्टसह होते हैं। इनकी व्याधियों का निदान करना और चिकित्सा करना कठिन होता है। इनमें कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनको संगीत की रुचि बहुत कम होती है।

इन प्रकृतियों के विषय में यह भी कहा गया है कि:—

प्रकोपो वान्यथाभावः क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः॥

उक्त प्रकृति विवेचन के कारण तदुत्तर कालमें प्राकृत वैकृत शब्दों की कुछ व्याख्या बदल गई अर्थात प्रकृतिजनक वातपित्तश्लेष्मा ओं को ही प्राकृत और शेष दोषों को वैकृत कहने की प्रवृत्ति शुरू हुई। इसका स्पष्ट निदर्शन अष्टांग संग्रह के निम्न लिखित अंशपर से होता है। जैसा किः—

द्विविधा वातादयः प्राकृता वैकृताश्च । तत्र प्राकृताः सप्तविधायाः प्रकृतेर्हेतुभूताः, शरीरैकजन्मानः, ते शरीरधारणाद्धातुसंज्ञाः, दोषाख्यानां विकृतीनां बीजभूताः।....वैकृतास्तु गर्भादभिनिःसृतस्य, आहाररसस्य मलाः संभवंति प्राकृतेष्ववरोहंति, ते कालादिवशेन स्वप्रमाण वृद्धिक्षययोगात् देहमनुगृण्हंति दूषयंति च। [अ. सं. शा. अ. ८] अस्तु.

शब्दादिगुणप्रधानतावादी पांचभौतिकी प्रकृति मानते थे। जैसा किः—प्रकृतिमिहनराणां भौतिकी केचिदाहुः पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः। स्थिर विपुल शरीरः पार्थिवश्चक्षमावान् शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥ (सु. शा. अ. ४)

उक्त प्रकृति विषयक अन्वेषण क कारण ही यह कहा जाने लगा कि " वात पित्त श्लेष्माण एव देह संभव हेतवः" [सु. सं.] अर्थात वातपित्तश्लेष्मा ही देहोत्पादक कारण है।

वातपित्तश्लेष्माओं का लोकगत अधिष्ठान.

षड्रसवादी वातपित्तश्लेष्माओं का संबंध लोकगत वायु, सूर्य और सोम (चंद्र) के साथ प्रस्थापित करते थे। क्योंकि इनके वर्ष, उष्ण, शीत लक्षण जागतिक प्रभावों का और वातपित्तश्लेष्माओं के चय, प्रकोप, प्रशमों का घनिष्ट संबंध अच्छी तरह सिद्ध हो चुका था। इस विषय में किसी को कुछ भी शंका नहीं थी। पर प्रत्येक संप्रदाय, अपने २ सृष्टिविज्ञान के अनुसार उक्त लोकगत 'विभूतियों' का भी समन्वय मूलभूत द्रव्यों, गुणों अथवा धर्म्मों मे करता था और तदनुसार वातपित्तश्लेष्माओं को भी द्रव्य, गुण, अथवा धर्म्म कहता था।

धातुपंचकवादी भारद्वाज, जिस तरह शरीरगत धातु प्रसाद, ओज, तेज इन सचेतन द्रव्यों का शरीरगत अचेतन धातुपंचक में विशेषतः वायु, अग्नि, उदकों में समन्वय करते थे (जैसा कि अष्टांगसंग्रहोक्त "वाय्वाकाशाभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अंबुपृथिवीभ्यां श्लेष्मा" और सौश्रुतिक "वायुरात्मनैवात्मा, आग्नेयं पित्तम्, श्लेष्मा सौम्य इति" इन विधानों पर से सिद्ध होता है) उसी तरह वायु, सूर्य, चंद्र इन जागतिक विभूतियों का भी धातुपंचक में समन्वय करते थे। सारांश उनकी दृष्टि में वातपित्तश्लेष्माओं का और वायु सूर्य चंद्र का अंतिम समन्वय धातुपंचक में होता था। इस

धातु पंचक को वे ' अभूत ' द्रव्य कहते थे अतः वे वातपित्त-श्लेष्माओं को भी ' द्रव्य ' कहते थे।

षड्धातुवादी, भारद्वाज के उक्त समन्वय को ही स्वीकार करते थे। पर उनकी दृष्टि में आकाशादिक, ' भूत ' एवं चेतनाधातु के ' गुण ' होने के कारण वातपित्तश्लेष्मा भी तत्वतः ' गुण ' ही थे।

किंतु अग्नीषोम लोकपक्षीयों की दृष्टि में जिधर-उधर देवताओं का साम्राज्य था। अतः वे वातपित्तश्लेष्माओं का विश्वगत प्रधान धर्म्मों में समन्वय करते थे। इस विषय में सर्व प्रथम अग्नीषोमवादियों के कथन को जानना परम आवश्यक है।

अग्नीषोमवाद.

अग्नीषोमवादी, समस्त विश्व की तह में अग्नि और सोम संज्ञक धर्म्मों का अस्तित्व प्रतिपादन करते थे। उनके सिद्धांत के अनुसार वे मधुरादि षडास्वादों का, (अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः सौम्या आग्नेयाश्च) गुणप्रसादाख्य वर्ग का अथवा विंशति गुणों का, (वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः) तेज व ओज संज्ञक पदार्थों का, (तेजोप्याग्नेयम्, ओजः सोमात्मकम्) शुक्रार्तवों का, (सौम्यंशुक्रमार्तवमाग्नेयम्) पित्तश्लेष्माओं का, (आग्ने-

यं पित्तम्, श्लेष्मा सौम्यः) और आदान विसर्गात्मक ऋतुप्रभावों का अर्थात् काल का भी('आदानमाग्नेयम्, विसर्गः सौम्यः' तथा 'अन्येतु गुर्वादीनामग्नीषोमात्मकत्वादादानविसर्गविभागेन कालस्य च उष्णशीतात्मकत्वात् "द्विविधमेवामनंति') समन्वय अग्नीषोम संज्ञक धर्मद्वय में करते थे। उनका यह वक्तव्य प्रसिद्ध है कि:—

नानात्मकमपिद्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्॥ (अ. सं.)

अर्थात् समस्त द्रव्य समुदाय, नानात्मक (आकाशादि पंचधात्वात्मक) और अनेक रूपात्मक होते हुए भी अग्नीषोम संज्ञक महान् धर्म्मों के अतिरिक्त नहीं है जैसाकि समस्त जगत 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त नहीं है। सारांश अग्नीषोम धर्म्मों की भिन्न २ मात्राओं के संयुक्त परिणाम स्वरूप ही आकाशादि द्रव्य हैं।

अग्नीषोमवादी पित्तश्लेष्माओं का आदानविसर्गों में, आदानविसर्गों का सूर्यचंद्र में और सूर्यचंद्रों का अग्नीषोम में समन्वय करते ही थे। वायु के विषय में यद्यपि उनका स्पष्ट कथन उपलब्ध नहीं होता तथापि यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि देहगत व लोकगत वायु को वे अग्नीषोमात्मक ही कहते होंगे।

अग्नीषोमवाद का उक्त स्वरूप ध्यान में रखकर ही अग्नीषोमलोकपक्षीयों के कथन का विचार करना होगा। कालवादी, यद्यपि अग्नीषोम संज्ञक धर्म्मद्वयों का अस्तित्व स्वीकार करते थे तथापि उनका यह कथन था कि 'अग्नीषोम संज्ञक धर्म्मों के भी तह में 'काल' संज्ञक महती गति का अस्तित्व है'। त्रिधातुसिद्धांतवादी भी अग्नीषोम का अस्तित्व स्वीकार करते थे पर उनको अग्नीषोमवादियों का 'वायु' विषयक औदासिन्य मान्य नहीं था।

त्रिधातुसिध्दांतवादियों का 'वायु' शब्द धर्म्म बोधक (भी) है। धातुपंचकवादी जिस 'वायु' संज्ञक 'द्रव्य' को धातुप्रसादगत 'करणवृत्ति' रूप चेष्टाओं का जनक मानते थे उस प्राणद्रव्य के भी तह में इनको 'वायु धर्म्म' का अस्तित्व प्रतीत हो रहा था। इस धर्म्म की प्रतीति अन्यत्र भी होगई थी जैसा कि 'हृन्मांस' गत 'प्रस्पंदन'। (इस धर्म्म को ओजगत धर्म भी कहा गया है) इस धर्म को वे अग्नीषोम से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। और इस-करणवृत्ति रूप वायु धर्म को ही भिन्न २ व्यापारानुसार प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान कहते थे। लोक में इस वायु-धर्म का संबंध 'काल' संज्ञक महान् धर्म के साथ किया जाने लगा था। सरांश त्रिधातुसिद्धांतवादी, वंशांकुर-गत वातपित्तश्लेष्माओं का संबंध देहलोकगत वायु, अग्नि,

सोम, संज्ञक धर्मों के साथ प्रस्थापित करते थे। अर्थात् त्रिधातुवादियों की दृष्टि से वातपित्तश्लेष्मा तत्वतः 'धर्म' हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध 'वातकलाकलीय' परिषद् इस त्रिधातु-सिध्दांत को प्रस्थापित करने के लिये ही हुई। अतः अब उस पर भी विचार करें।

वातकला कलीय परिषद्

इस परिषद् में सर्व प्रथम सांकृत्यायन कुश ने कहा कि:— 'रूक्षलघुशीतदारुणखरविषदाः षडिमे वातगुणाभवंति'। इस पर कुमारशिरा भरद्वाज ने कहा कि:— 'सत्वैरेवंगुणैरेवं द्रव्यैरेवंप्रभावैश्च कर्मभिरभ्यस्यमानैर्वायुः प्रकोपमापद्यते, समानगुणाभ्यासो हि धातूनांवृद्धिकारणम्'। इस पर वाल्हीकभिषक् कांकायन ने कहा कि 'अतोविपरीतानि वातस्य प्रशमनानि भवंति, प्रकोपनविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणम्।' इस पर धामार्गव बडिश ने कहा कि 'वातप्रकोपनानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखराविषदसुशिरकराणि शरीराणां, तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वा आप्यायमानः प्रकोपमापद्यते। वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्णमृदु पिच्छिलघनकराणि शरीराणां, तथा विधेषु शरीरेषु वायुरासज्यमानश्चरन् प्रशांतिमापद्यते'। इन ऋषित्रयों के वक्तव्य में ध्यान रखने योग्य बातें यह हैं कि:—इसमें गुर्वादि विंशति गुणों के आधार पर वातपित्तश्लेष्माओं के

लक्षण, प्रकोप और प्रशम का विधान किया है। 'तथा-विधेषु शरीरेषु' से 'धातुप्रकृति' का निर्देश किया है। इस पर से यह ज्ञात होता है कि इस समय के पूर्व ही वात-पित्तकफप्रकृतियों का ज्ञान हो चुका था। 'सुषिर' गुण का उल्लेख करना यह भी सिद्ध करता है कि त्रिधातुसिद्धांत के समर्थक, आकाश का वायु में अंतर्भाव करते थे।

इसके बाद राजर्षिवार्योविद् ने कहा कि:—एवमेत-त्सर्वमनपवादं यथा भगवान् आह। यानि तु खलु वायोः कुपिताऽकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य च शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिःशरीरेभ्यो वा भवंति तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुमानोपमानैः साधयित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः। "वायुस्तंत्र-यंत्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टामुच्चा-वचानां, नियंता प्रणेता च मनसः, सर्वेंद्रियाणामुद्योजकः, सर्वें-द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तकोवाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शन योर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनां, आयुषोऽनुवृत्ति प्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः। कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय, मनोव्याहर्षयति, सर्वेंद्रियाण्युपहंति, विनिहंति गर्भान्, विकृति-मापादयति, अतिकालं धारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापान् जनयति, प्राणांश्चोपरुणध्दि।

प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवंति। तद्यथा धरणी धारणं, ज्वलनोज्वालनम्, आदित्य-चन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां संतानगतिविधानम्, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपांविसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसाम्, पुष्पफलानांचाभि-निर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानाम्, ऋतूनां प्रविभागः प्रविभागो धातूनाम्, धातुमानसंस्थानव्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः शस्याभिवर्द्धनमविक्लेदोपशोषणे, अवैकारिकविकाराश्चेति।

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवंति। तद्यथा—शिखरिशिखरावमंथनम्, उन्मथनमनोकहानाम्, सागराणाम, उद्वर्तनं सरसाम्, प्रतिसरणमापगानाम्, उत्पीडनं आकंपनं च भूमेः, आधमनमंबुदानाम्, नीहारनिर्ह्लादपांशु-सिकतामत्स्यभेकोरगक्षाररुधिराश्माशनिविसर्गः, भावानां चाभावकरणम्, चतुर्युगांतकराणां मेघसूर्यानलानिलानां विसर्गः।

आगे कांकायन के प्रजापति वाद में वायु के वैदिक विवेचन के साथ साथ इन अंशों का भी तौलनिक दृष्ट्या विवेचन होगा। सारांशः—

सहि भगवान्, प्रभवश्च अव्ययश्च भूतानाम् भावा-भावकरः, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः, यमः, नियंता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः,

प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेंद्रियं बलवर्णसुखोपपन्नमायुषा महता उपपादयंति, सम्यगेवाऽऽचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महता पुरुषमिहचामुष्मिंश्च लोके, विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयंति ऋतवःत्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति।

इस पर से यह बिलकुल स्पष्ट है कि इस परिषद् में भारद्वाज को छोडकर अन्य सब ऋषि, पंचात्मक लोकपक्षीय नहीं थे अपितु द्विधात्मक लोकपक्ष को त्रिधात्मक बनाने वाले थे। इसमें वातपित्तश्लेष्माओं के तात्विक स्वरूप पर विचार हुआ और उनका संबंध वायुअग्निसोमसंज्ञक जागतिक धर्म्मों के साथ प्रस्थापित किया गया। ये समस्त ऋषि गुर्वादि गुणों को प्रधान माननेवाले थे। इनमें कांकायन और पुनर्वसु आत्रेय आत्मा को स्वतःसिद्ध कहते थे और शेष सब ऋषि आत्मा और सत्व को रसज अथवा त्रिधातुज मानते थे। पुनर्वसु आत्रेय को (और कांकायन को भी) त्रिधात्वात्मक सिद्धांत यद्यपि स्वीकृत था तथापि सर्वांश में वे उससे सहमत नहीं थे। क्योंकि इसमें आत्मा या प्रजापति का स्वतः सिद्ध अस्तित्व नहीं माना जाता था, अतः उन्होंने अन्यत्रैकांतिक 'वचनात्' कहकर अपने मत को सुरक्षित रक्खा।

कुछ लोग दो वार्योविदों की कल्पना करते हैं पर वह कल्पना ही है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस त्रिधातु-

सिद्धांत का प्रजापतिवाद में और उसका भी पुनर्वसु आत्रेय के त्रिभागात्मक सिद्धांत में किस प्रकार समन्वय हुआ। अस्तु।

शारीरधातुओं का तीसरा वर्गीकरण प्रायः लक्षणस्कंध से संबंध रखता है। इसका अस्पष्ट आरंभ यद्यपि 'वातादीनां रसादीनां मलानामोजसस्तथा' (च. सू. अ. १७) इसमें दिखाई देता है तथापि उसका संशोधित रूप 'दोष, धातु, मल, मूलं हि शरीरम्' (सु. सू. अ. १५) इसीमें व्यक्त हुआ है। इसमें शारीरधातुओं के दोष, धातु और मल संज्ञक तीन प्रधान विभाग किये हैं।

हिरण्याक्ष कुशिक और षड्धातु वाद

वार्योविद के बाद हिरण्याक्ष ने कहा कि:—

हिरण्याक्षस्तुनेत्याह नह्यात्मा रसजस्मृतः ।
नातींद्रियं मनः संति रोगाः शब्दादिजास्तथा ॥

अर्थात रस को पुरुषरोगोत्पादक कहना उचित नहीं है। क्योंकि आत्मा, रसज नही है; अतींद्रिय मन, रसज नहीं है और शब्दादि अर्थों के हीनमिथ्यातियोग से पैदा होने वाले रोग भी रसज नहीं हैं।

वार्योविद आत्मा को रसज कहते थे। वार्योविद को शब्दादि अर्थों के हीनमिथ्यातियोग से रोगों का पैदा होना यद्यपि मान्य था तथापि उनका यह कथन था कि शब्दादि जन्य रोगों कि तह में सत्ववादी जिस सत्व को कारण मानते हैं वह सत्व भी जब कि रस से ही पैदा होता है तब रस ही इनका कारण है। हिरण्याक्ष ने वार्योविद के इन विधानों का ही प्रतिवाद किया है। प्रतिवाद के पश्चात् अब स्वकीय मत कहते हैं कि:—

षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा ।
राशिःषड्धातुजः सांख्यैराद्यैः सम्परिकीर्तितः ॥

अर्थात पुरुष, षड्धातुओं से पैदा होता है और रोग भी षडधातुओं से पैदा होते हैं। आद्यसांख्यों ने भी (सांख्यों में इनको 'आद्यसांख्य' कहा जाता था) हेतुज पुरुष को षड्धातुओं का समुदाय ही कहा है।

यज्ज:पुरुषीय परिषद् में हिरण्याक्ष यद्यपि वार्योविद के रसवाद का प्रतिवाद करते हुए दिखाई देते हैं तथापि ये मुख्यत: भारद्वाज के धातुपंचकवाद के प्रतिस्पर्धी हैं।

हम यहां यह कहने का साहस करते हैं कि हिरण्याक्ष जिस षड्धातुवाद का समर्थन करते हैं उसका अभ्युत्थान भी ऐतिहासिक दृष्ट्या धातुपंचकवाद में से ही हुआ होगा।

धातुपंचकवाद में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इनको 'अभूत' और समस्त अचेतन सचेतन जगत् के 'धारक' कहा जाता था। और चेतना को इनका ही परिणाम माना जाता था। फलत: गर्भोत्पत्ति के विषय में भारद्वाज का यह कथन था कि:—

गर्भस्तु खलु अंतरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेत-नाधिष्ठान भूत:। (च. शा. अ. ४) अर्थात गर्भ आकाशादि धातुपंचक का विकार होकर चेतना का अधिष्ठान है।

किंतु जिनको यह ज्ञात हो गया था कि चेतनाधातु ही स्वत: सिद्ध है और आकाशादिक 'भूत' अर्थात पैदा हुए

हैं वे गर्भ को, शरीर को, अथवा धातुपंचक को चेतना का अधिष्ठान कहना स्वीकार नहीं करते थे अपितु चेतनाधातु को ही उनका सबका अधिष्ठान कहते थे। अतः उनका यह कथन था किः—

एवम् अनया एव युक्त्या पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भः। चेतना तु अधिष्ठान भूतः। स हि अस्य षष्ठोधातुरुक्तः। (च. शा. अ. ४) अर्थात इस युक्ति स इतना ही सिद्ध होता है कि "गर्भ, पंचमहाभूतों के विकारों का समुदाय" है और यह मान्य भी है। पर वह चेतना का अधिष्ठान नहीं है बल्कि चेतना ही उसका अधिष्ठान है। क्योंकि गर्भ के जिस तरह उक्त पांच धातु हैं उसी तरह चेतना भी उसका छठा धातु है।

षड्धातुवादियों का यह सामान्य सिद्धांत है किः—

खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुष संज्ञकः॥ (च. शा.)

अर्थात आकाशादि पांच और चेतना इन छः धातुओं के समुदाय को पुरुष कहते हैं। और अकेला चेतनाधातु भी 'पुरुष' संज्ञक है। तहां चेतनाधातु-पुरुष के विषय में इनका यह कथन है किः—

सहि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मंता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्राधान्यमव्यक्तं जीवो ज्ञः प्रकुलश्चेतनावान् विभुर्भूतात्माचेंद्रियात्माचांतरात्माचेति। (च. शा. अ. ४)

इस में कतिपय विशेषणों का स्पष्टीकरण आत्मवाद के विवेचन में किया गया है। धाता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप इत्यादि विशेषण विराट् पुरुष के अथवा लोकाभिमानी पुरुष के उपलद्य में हैं। और भूतात्मा, इंद्रियात्मा, क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा इत्यादि विशेषण देहाभिमानी पुरुष के उपलक्ष्य में हैं। तहां भूतात्मा अथवा इंद्रियात्मा को 'शरीरधात्वात्मा' भी कहते हैं। जैसा कि 'शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोंऽगादंगात्संभवति'। (च. शा. अ. ४) क्षेत्रज्ञ, अथवा जीवात्मा कर्मानुसार एक देह को छोड़ कर (मनोजवो देहमुपैति देहात्) दूसरे देह में प्रवेश करता है। यथा 'क्षेत्रज्ञः....... दैव संयोगात्......भूतात्मना सह अन्वक्षं गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते। (सु. शा. अ. ३)

'गुणी' यह विशेषण महत्वपूर्ण है। चक्रपाणि दत्त ने इसका अर्थ 'भूतरूपगुणवान्' करके यह भी कहा है कि 'गुणोऽप्रधानं, प्रधानंचात्मा, तद्व्यतिरिक्तानि भुतानि गुणाः'। सारांश आत्मा, गुणी होकर आकाशादिक उसके 'गुण' हैं। आगे भी 'गुणग्रहणाय' 'गुणोपादानम्' इत्यादि स्थलों

में षड्धातुवादियों ने गुण शब्द से आकाशादिकों को ही संबोधित किया है।

अब इन गुणों के उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि:—

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्वकरणो गुणग्रहणाय पुनः प्रवर्तते। स गुणोपादानकाले अंतरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते, यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूतः सत्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततो व्यक्ततरगुणान्वाय्वादींश्चतुरः। सर्वमपि खल्वेतत् गुणोपादानम् अणुना कालेन भवति।

(च. शा. अ. ४)

सारांश सृष्टि के आरंभ में और गर्भ में भी सृष्टिकर्ता चेतनाधातु, सत्वरूप उपादान अथवा करण से युक्त होकर सर्व प्रथम गुण ग्रहण में प्रवृत्त होता है अर्थात गुणों को व्यक्त करता है। गुणोपादान के समय वह अन्य गुणों के पहिले आकाश-गुण को ग्रहण करता है और बाद में क्रमशः व्यक्ततर वायु आदि गुणों को ग्रहण करता है। यह गुण-ग्रहण अत्यल्प समय में हो जाता है।

धातुपंचकवादी, आकाशादिकों को नित्य द्रव्य मानते थे। उनका कहना था कि 'इन आकाशादिकों में अप्रतीघातकत्वादि और शब्दादि गुण रहते हैं। ये गुण, इन द्रव्यों के स्वभाव हैं'। किंतु षड्धातुवादियों को चेतनाधातु, का

स्वतः सिद्ध अस्तित्व प्रतीत हो जाने के कारण वे आकाशादिकों को चेतनाधातु के 'गुण' कहते थे। अतः उक्त विधान में उन्होंने यह कहा है कि 'चेतनाधातु, आकाशादिगुणों को व्यक्त करता है। सारांश धातुपंचकवादी जिन गुणों को 'स्वभाव' कहते हैं उनको ही षड्धातुवादी आकाशादि नामों से संबोधित करते हैं। क्योंकि उनके मत से आकाशादिक, अभिव्यक्ति के समय गुणमात्र रहते हैं।

किंतु यहां यह जानना आवश्यक है कि अभिव्यक्ति के समय आकाशादिक, अप्रतीघातकत्वादि गुणमात्र रहते हैं अथवा शब्दादि गुणमात्र रहते हैं ? और इस विषय में षड्धातुवादियों का क्या कथन है ?

इस तरह देखा जाय तो षड्धातुवादी आकाशादिकों को अप्रतीघातकत्वादि गुण मात्र (आकाश-अप्रतीघातकत्व, वायु-चलत्व, अग्नि-उष्णत्व, जल-द्रवत्व, पृथ्वी-खरत्व) ही स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि षड्धातुवादियों का यह कथन कि 'इन गुणों की अभिव्यक्ति व्यक्त, व्यक्ततर, व्यक्ततम, इस क्रम से होती है;' वैज्ञानिक दृष्टया शब्दादि तन्मात्राओं में उतनी चरितार्थ नहीं होती जितनी कि अप्रतीघातकत्वादि लक्षणों या गुणों में। और इसी हेतु से षड्धातुवादी, गर्भगत गुणोपादन में अप्रतीघातकत्वादि गुणों के स्थान पर छिद्र, प्राण, संताप, क्लेद, मूर्ति

इन गुणों का उल्लेख करते हैं जैसा कि उनके "पुरुषोऽयं लोकसम्मतः। यावंतो हि मूर्तिमंतो लोके भावविशेषास्तावंतः पुरुषे यावंतः पुरुषे तावंतो लोके। तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसंतापो, वायुः प्राणो, वियच्छिद्राणि, ब्रह्मांतरात्मा। (च. शा. अ. ४ व ५) इस विधान पर से सिद्ध होता है। उक्त छिद्रादिगुण, अप्रतीघातकत्वादि गुणों के ही देहगत रूप हैं। इनका उल्लेख करना आकाशादिकों को अप्रतीघातकत्वादि गुणमात्र स्वीकार करना ही है। इतना ही नहीं तो षडधातुवादी अब यह भी कहते हैं किः—

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येवचादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा ।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिंता चिकित्सिते ॥
(सु. शा. अ. १)

अर्थात चूंकि जब कि चिकित्सा शास्त्र में सचेतन-अचेतन द्रव्यगत पंचमहाभूतों का ही विचार किया जाता है और चिकित्सा में अर्थात शारीरधातुओं के सम-विषम करण में सर्वदा गुर्वादि गुणविशिष्टभूतग्राम का ही उपयोग होता है (गुर्वादिगुणों के द्वारा ही साम्य-वैषम्य होता है) तब यह कहना ही उचित है कि " आकाशादि पंचमहाभूत, अप्रतीघातत्वादिलक्षणमय (अभिव्यक्ति के समय तन्मात्र)

और छिद्र, प्राण आदि गुण विशिष्ट हैं। और इनके द्वारा तल्लक्षण ही समस्त सचेतन अचेतन भूतग्राम पैदा हुआ है ”।

षड्धातुवादी, गुणप्रसदाख्य धातुओं का अथवा केवल गुर्वादि स्वभावों का अप्रतीघातकत्वादि गुणों में समन्वय करते थे। इन गुणों को ही वे आकाश आदि नामों से संबोधित करते थे और अभिव्यक्ति के समय आकाशादिकों को अप्रतीघातकत्वादिमात्र स्वीकार करते थे।

षड्धातुवादी, वातपित्तश्लेष्माओं के लोकगत अधिष्ठान पर विचार करते हुए वातपित्तश्लेष्माओं का अप्रतीघातत्वादि गुणों में विशेषतः चलत्व. उष्णत्व और द्रवत्व में समन्वय करते थे।

षड्धातुवादानुसार आत्मा ‘ गुणी ’ है। आकाशादिक अपने मूलभूत अप्रतीघातकत्वादि रूपों में उसके ‘ गुण ’ हैं। ये गुण ‘ अभूत ’ नही हैं; बल्कि ‘ भूत ’ हैं। तदनुसार आकाशादिक ‘ भूत ’ अथवा ‘ महाभूत ’ कहे जाते हैं। इन महाभूतों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधों की प्रतीति होती है। किंतु ये ‘ आत्मगुण ’ नहीं हैं; अपितु ‘ भौतिक गुण ’ हैं। सारांश इनको ‘ कार्यगुण ’ माना जाता है ‘ कारणगुण’ नहीं माना जाता।

षड्धातुवादी, सत्व को आत्मा का ‘ करण ’ और ‘ उपादान ’ कहते हैं। किंतु इसको वे सातवाँ धातु नहीं

कहते । क्योंकि आत्मवादियों की बुद्धि, जिस प्रकार आत्मा से पैदा होकर आगे स्वयं ही अहंकार में तथा आकाशादिकों में परिणत होती है अथवा उनको जनती है उस प्रकार षड्धातुवादियों का सत्व, स्वयं गुणग्रहण या गुणोपादान नहीं करता। षड्धातुवादानुसार सत्व को इतना स्वतंत्र नहीं माना जाता। इसका मुख्य कारण यह है कि षड्धातुवादी, आत्मा के कर्तृत्व को और ज्ञातृत्व को भिन्न २ मानते हैं। उनके इस मत का निदर्शन "निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूत गुणेंद्रियैः" (च. सू. अ. १) इस विधान पर से होता है। इसमें सत्व गुणों का और भूत गुणों का अलग २ उल्लेख है। सारांश षड्धातुवादानुसार आत्मा का कर्तृत्व, गुणपंचक में व्यक्त होता है और ज्ञातृत्व, करणोपादान रूप त्रिगुणात्मक सत्व में। इस तरह यद्यपि आकाशादि गुणपंचक का और सत्व का आपस में जन्य जनक संबंध नहीं है तथापि जिस समय चेतनाधातु, गुणग्रहण में प्रवृत्त होता है तब वह करणोपादान संज्ञक सत्व से युक्त रहता है।

रस, शुक्र, आर्तवादि अन्य गर्भोत्पादक भावों का भूत पंचक में अंतर्भाव करने के हेतु से षड्धातुवादी कहते हैं कि:—मातृजादयोप्यस्य महाभूतविकारा एव। तत्र अस्य आकाशात्मकं शब्दः, श्रोत्रं, लाघवं, सौक्ष्म्यं, विवेकश्च। वाय्वात्मकं स्पर्शः, स्पर्शनं च रौक्ष्यं, प्रेरणं, धातुव्यूहनं, चेष्टाश्च शारीरः।

अग्न्यात्मकं रूपं, दर्शनं,प्रकाशः,पक्तिरौष्ण्यं च । अबात्मकं रसो, रसनं, शैत्यं, मार्दवः, स्नेहः, क्लेदश्च । पृथिव्यात्मकं गंधो, घ्राणं, गौरवं, स्थैर्यं, मूर्तिश्च । (च. शा. अ. ४)

षड्धातुवादियों के मत से इंद्रिय और इंद्रियार्थ दोनों ही पांचभौतिक होने के कारण उनका उक्त विधान में पंचीकरण किया गया है । इसीका स्पष्टीकरण अन्यत्र इस प्रकार किया गया है कि " यतोऽभिहितं तत्संभवद्रव्यसमूहो-भूतादिरुक्तः,भौतिकानि च इंद्रियाण्यायुर्वेदे वक्ष्यंते तथेंद्रियार्थाः" (सु. शा. अ. १) अर्थात जब कि उस कर्मपुरुष को पैदा करने वाला शुक्रशोणितांतर्गत गुणप्रसादाख्य द्रव्यसमुदाय पांच-भौतिक है तब आयुर्वेद में इंद्रियों और इंद्रियार्थों को भौतिक ही कहा जाता है । और इसी हेतु से यह कहा गया है कि ' तत्र यद्यदात्मकमिंद्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृण्हाति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च ' । (च. सू. अ. ८) अथवाः—

इंद्रियेणेंद्रियार्थं तु स्वं स्वं गृण्हाति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ।
(सु. शा. अ. १)

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जो संप्रदाय, ज्ञातृत्व में ही कर्तृत्व का समन्वय करते हैं उनकी यह दलील रहती है कि " चूंकि जब कि इंद्रियों के द्वारा शब्दा-

दिगुणों का ही ग्रहण होता है और अप्रतीघातकत्वादिक केवल स्पर्शज्ञेय हैं तब आकाशादिकों का शब्दादि तन्मात्राओं में और उनका भी ज्ञान में समन्वय करना उचित है"। किंतु जो संप्रदाय ज्ञातृत्व और कर्तृत्व को भिन्न २ मानते हैं वे इस दलील को स्वीकार नहीं करते।

मालूम होता है कि षड्धातुवादी 'कृत' कर्म के पक्षपाती थे जैसा कि कर्मवाद के प्रकरण में उद्धृत किये गये अंशों पर से सिद्ध होता है। पुनर्भव विषयक प्रमाणचतुष्टय इनका ही है। हिरण्याक्ष कुशिक, वात-कलाकलीय परिषद् में अनुपस्थित थे।

कौशिक का परंपरावाद.

कौशिकः—षड्धातुवाद का खंडन करते हुए कौशिक ने यह कहा कि:—

तदुक्तवन्तं कुशिकमाह तन्नेति कौशिकः ।
कस्मान्मातापितृभ्यां हि विना षड्धातुजो भवेत् ॥
पुरुषः पुरुषाद्गौर्गोरश्वादश्वः प्रजायते ।
पित्र्या मेहादयश्चोक्ता रोगास्तावत्रकारणम् ॥

अर्थात् केवल षड्धातुसमुदाय से–इनका मिश्रण बना देने से पुरुष की अथवा रोगोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो सकती है तो वह बिना माता पिता के ही क्यों नहीं होती ? और यह तो प्रत्यक्ष है कि पुरुष से पुरुष, गौ से गौ अश्व से अश्व इस तरह समस्त जीव जाति अपनी पितृपरंपरा से पैदा होती हैं । प्रमेह आदि रोग भी पैतृक दिखाई देते हैं । सारांश पुरुष और रोगों की उत्पत्ति में माता–पिता ही कारण हैं ।

परंपरावादी इतने पक्के नास्तिक थे कि उनका खंडन स्वभाववादी और यदृच्छावादी जैसे नास्तिकों ने भी किया है । क्योंकि भारद्वाज ने इस पर यह आपत्ति बतलाई थी

कि " यदि च मनुष्यो मनुष्य प्रभवः, कस्मात् जडांधकुब्ज-मूकवामनमिम्मिण व्यंगोन्मत्तकुष्ठिकिलासिभ्यो जाताः पितृ-सदृशरूपा न भवंति ? " किंतु भारद्वाज के इस कथन से परंपरावाद पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। आत्मवादियों ने इनके मत को उद्धृत करते हुए यह कहा है कि " मातापितृ परंपरा से पैदा होने वाले पुरुषों में यद्यपि सारूप्य रहता है और इस कारण उनको पूर्व सदृश भी कहा जाता है तथापि वे पूर्व के नहीं है; क्योंकि उनकी पैदाइष प्रतिसमय नवीन नवीन होती है। सारांश प्रत्येक प्राणी आत्मतत्वरहित पंच-विकारसमुदायमात्र होने के कारण और इस समुदाय का परिणाम ही ' सत्व ' होने के कारण चेतना धातुपुरुष, न कुछ करता, न कुछ भोगता और न अस्तित्व ही रखता है"। किंतु यह मत भी कौशिक के परंपरावाद से मेल नही खाता। कर्मवादियों ने मातापितृ वाद का खंडन करत हुए यह कहा है कि " इस तरह जिनकी बुद्धि है उनके मत से चतुर्विधा योनि है ही नहीं ! " अर्थात पितृ परंपरावादियों का सिध्दांत औद्भिज और स्वेदज योनियों में जिनमें कि मातापितृसंबंध का अभाव है, चरितार्थ नहीं होता। किंतु इस पर से भी कौशिक के परंपरावाद पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पडता।

आस्तिकों म भी ' बुद्धिपूर्वकसर्ग ' के नाम से एक परंपरावाद प्रचलित है जिसमें ब्रह्मा से मन्वादिकों की,

मरीच्यादि महर्षियों की और देवासुरमनुष्यों की वंशपरंपरा का विवेचन किया जाता ह।

कौशिक रसपरिषद् में और वातकलाकलीयपरिषद् में उपस्थित नहीं थे।

भद्रकाप्य का कर्मवाद.

भद्रकाप्यः— कौशिक का प्रतिवाद करते हुए भद्रकाप्य ने कहा कि :—

> भद्रकाप्यस्तु नेत्याह नह्यंधोऽधात्प्रजायते ।
> मातापित्रोरपि च ते प्रागुत्पत्तिर्न युज्यते ॥

अर्थात पुरुष और रोगों की उत्पत्ति में केवल माता-पिता को कारण कहना उचित नहीं है । यदि मातापिता ही कारण हों तो अंधे मातापिताओं से अंधा बालक पैदा होना चाहिये किंतु प्रत्यक्ष में यह दृग्गोचर नही होता। सिवाय कल्प पूर्व अवस्था में जब कि मातापिता का अस्तित्व ही नहीं रहता; आपके कथनानुसार उत्पत्ति असंभव है । वास्तविक बात यह है कि:—

> कर्मजस्तु मता जंतुः कर्मजास्तस्य चामयाः ।
> नह्यृते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य च ॥

पुरुष और रोग कर्म से पैदा होते हैं। बिना कर्म के दोनों की उत्पत्ति नही होती ।

आगे भारद्वाज ने भद्रकाप्य के कर्मवाद का जिस भाषा में प्रतिवाद किया है उसपर से यह ज्ञात होता है कि

कुछ संप्रदाय कर्म को 'अकृत' मानते थे तो कुछ 'कृत'। तहां भद्रकाप्य, कर्म को 'अकृत' मानने वाले संप्रदायों में से एक हैं। सिवाय भद्रकाप्य के रसपरिषद्स्थ भाषण पर से यह भी विदित होता है कि भद्रकाप्य का सृष्टिविज्ञान प्रकृतिपुरुषवादात्मक होगा। प्रकृति को अनादिस्वतःसिद्ध मानने वाले, 'कर्म' को अकृत मानते भी हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि से कर्म और प्रकृति एक ही पदार्थ है।

चरकसंहिता में अकृत कर्मवाद का इससे अधिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता किंतु कृत कर्मवाद का होता है। चरकसंहिता के त्रिस्रैषिणीयाध्यायमें "परलोकैषणा" पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि:—

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत। संशयश्चात्र—कथंभविष्याम इतश्च्युता नवेति, कुतः संशयः पुनः? इतिउच्यते! संतिह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्य माश्रिताः संतिच आगम प्रत्ययादेव पुनर्भव मिच्छंति, श्रुति भेदाच्च।

मातरं पितरं चैके मन्यंते जन्मकारणम्।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छांचापरेजनाः॥

इत्यतः संशयः किंनु खल्वस्ति पुनर्भवो नवेति?

तत्र बुद्धिमान् नास्तिक्य बुद्धिं जह्यात् विचिकित्सां च। कस्मात् प्रत्यक्षं हि अल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमा-

नुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते । यैरेवतावादिंद्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, नान्येव संति चाप्रत्यक्षाणि ॥

सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात्करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात्समानाभिहारादभिभवादति सौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः तस्माद् अपरीक्षितमेतदुच्यते 'प्रत्यक्षमेवास्तिनान्यदस्तीति'। श्रुतयःश्चैता न कारणं युक्तिविरोधात् ।

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि संचरेत् ।
द्विविधं संचरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा ॥
सर्वश्चेत्संचेरन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत् ।
निरंतरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः ॥
बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव ते ।
येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा ॥
विद्यात्स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम् ।
संयोगे च विभागे च तेषां कर्मैव कारणम् ॥
अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः ।
पर आत्मा सचेद्धेतुरिष्टोस्तु परनिर्मितिः ॥
न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च ।
न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च ॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः ।
पातकेभ्यः परं चैतत्पातकं नास्तिक ग्रहः ॥

तस्मान्मतिं विमुंच्यैताममार्गप्रसृतां बुधः ।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथातथम् ॥ इति ॥

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति । आप्तास्तावत्—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं वक्ष्यंति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥
आत्मेंद्रिय मनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥
प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ।
वन्हिर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥
एवं व्यवस्यंत्यतीतं, बीजात्फलमनागतम् ।
दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ॥
जलकर्षण बीजर्तु संयोगात्सस्य संभवः ।
युक्तिः षड्धातु संयोगात् गर्भाणां संभवस्तथा ॥
मथ्य मंथन मंथान संयोगादग्नि संभवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद्व्याधिनिबर्हिणी ॥
बुद्धिः पश्यति या भावान्बहुकारणयोगजान् ।
युक्तिस्त्रिकाला साज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥
एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते ।
परीक्ष्यं सदसच्चैवं तया चास्ति पुनर्भवः ॥

तत्र आप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहः प्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाप्तागमः। आप्तागमादुपलभ्यते दान तपो यज्ञ सत्याहिंसा ब्रह्मचर्याण्यभ्युदयनिःश्रेयस कराणीति।

न चानतिवृत्तसत्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते। धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रम्हपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहतसत्वबुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुर्भिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम्।

प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते "मातापित्रो र्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसंभवानां वर्णस्वराकृतिसत्वबुद्धिभाग्यविशेषाः, प्रवरावरकुलजन्म, दास्यैश्वर्यम, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम, इहकृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनां च प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फलविशेषः, मेधा कचित् कचित्कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम् इहागमनमितश्चयुतानां च भूतानाम्, समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्"।

अतएवानुमीयते यत् स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं दैवसंज्ञकमानुबंधिकं कर्म, तस्यैतत्फलम, इतश्चान्यद्भविष्यतीति। फलाद् बीजमनुमीयते फलं च बीजात्।

युक्तिश्चैषा—षड्धातुसमुदायाद्गर्भजन्म, कर्तृकरणसंप्रयोगात् क्रियाः, कृतस्य करणं नाकृतस्य, नांकुरोत्पत्तिरबीजात,

कर्मसदृशं फलं नान्यस्माद्बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति युक्तिः । एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्ववधीयेत । इत्यादि । (च. सू. अ. ११)

इसमें कृत कर्मवादियों ने प्रमाण चतुष्टय के द्वारा कर्म, कर्मफल और पुनर्भव को सिद्ध किया है । पुनर्भव के विषय में निम्न लिखित अंश भी मननीय है । जैसा कि:—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्नतु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥
स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतींद्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ॥
रसात्ममातापितृसंभवानि भूतानि विद्याद्दश षट् च देहे ।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथात्मा च चतुर्षु तेषु ॥
भूतानि मातापितृसंभवानि रजश्च शुक्रं च वदंति गर्भे ।
आप्यायते शुक्रमसृक्च भूतैर्यैस्तानि भूतानि रसोद्भवानि ॥
भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशंति गर्भम् ।
स बीजधर्मी ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥
रूपाद्धिरूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः ।
भवंति येत्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्म हेतुः ॥
अतींद्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्माकदाचिन्न वियुक्तरूपः ।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां नचाप्यहंकारविकारदोषैः ॥
रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानाद्विना तत्र हि सर्व दोषाः ।

गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥
धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्ता ततोऽन्यथा शोकवशं नयंति ।
शरीर सत्व प्रभवास्तु दोषास्तयोरवृत्त्या न भवंति भूयः ॥
रूपस्य सत्वस्य च संततिर्या नोक्तस्तदादिर्नहि सोऽस्ति कश्चित्।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च ॥
सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम् ।
जितेंद्रियं नानुतपंति रोगास्तत्कालयुक्तं यदिनास्ति दैवम् ॥
दैवं पुरा यत्कृतमुच्यते तत् तत्पौरुषं यत्विह कर्म दृष्टम् ।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुर्हि समः स एव ॥
(च. शा. अ. २)

इसके अतिरिक्त भी चरकसंहिता में जहां तहां कर्म पर विचार किया गया है । यहां अनेक बातें विचारणीय हैं किंतु विस्तार भय के कारण उनको छोड़ देना ही आवश्यक है ।

भद्रकाप्य, वातकलाकलीय परिषद् में उपस्थित नहीं थे । हमारे मत से काप्य और भद्रकाप्य भिन्न २ ऋषि हैं । क्योंकि भद्रकाप्य के सृष्टिविज्ञान में शब्दादिगुण प्रधानता वादित्व है ।

भारद्वाज का स्वभाववाद.

भारद्वाजः—कर्मवाद का खंडन करते हुए भारद्वाज ने कहा किः—

भारद्वाजस्तु नेत्याह कर्ता पूर्वं हि कर्मणः ।
दृष्टं न चाकृतं कर्म यस्य स्यात्पुरुषः फलम् ॥

अर्थात कर्म, (अकृत कर्म) पुरुषरोगोत्पादक नहीं हो सकता क्योंकि कर्म के पूर्व उसके कर्ता का अस्तित्व मानना ही होगा । बिना किया हुआ कर्म जिसका फल ' पुरुष ' हो; देखने में नही आया ।

भद्रकाप्य, पुरुषोत्पादक कर्म को ' अकृत ' कहते थे । अतः भारद्वाज ने सिर्फ उनके प्रतिवाद के लिये ही यहां ' कृत ' कर्मवाद का अवलंब किया है । वास्तव में देखा जाय तो भारद्वाज को वह भी मान्य नहीं है । भारद्वाज, अब स्वमत कहते हैं किः—

भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च ।
खर द्रव चलोष्णत्वं तेजोऽतानां यथैव हि ॥

अर्थात उत्पत्ति का कारण ' स्वभाव ' है । पुरुष और व्याधियों की उत्पत्ति भी स्वभावतः होती है जैसा कि पृथ्वी

में खरत्व, जल में द्रवत्व, अग्नि में उष्णत्व वायु में चलत्व, और आकाश में अप्रतीघातकत्व स्वभावतः रहता है।

भारद्वाज के इस स्वभाववाद को ही हमने 'धातुपंचक-वाद' के नाम से संबोधित किया है। भारद्वाज, आयुर्वेद की पंचात्मकलोकपक्षीय शाखा के आद्य प्रवर्तक हैं। किसी समय इनका तंत्र बहुत विस्तृत रूप में विद्यमान था। किंतु उपलब्ध वाङ्मय में दो ही चार अंश ऐसे मिलते हैं जिनको कि निश्चय से भारद्वाजीय कहा जा सकता है। मालूम होता है कि तदुत्तरकालीन पंचात्मकलोकपक्षीयों ने जो कि आकाशादिकों को 'अभूत' मानने के बजाय 'भूत' मानने लगे थे; इनके विधानों में शाब्दिक परिवर्तन किया। अस्तु.

भारद्वाज, मधुरादि आस्वादों को धातुपंचक में विभाजित करते थे जैसाकि इनके रसपरिषदस्थ "पंच रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजो भौमोदकाग्नेयवायवीयांतरिक्षाः" (च. सू. अ. २६) इस विधान पर से ज्ञात होता है।

गर्भोत्पत्ति विषयक अर्थात ही पुरुषोत्पत्ति विषयक "गर्भस्तु खलु अंतरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः" यह विधान भारद्वाज का ही है और तदनुसार "तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंच महाभूत (भारद्वाज की भाषा में 'पंचधातु') विकार समुदायात्मकम्"

(च. शा. अ. ६) यह विधान भी भारद्वाजीय मालूम होता है। दोनों विधानों में स्वभाववादानुसार 'चेतनाधिष्ठानभूतम्' का अर्थ 'चेतना का अधिष्ठान' करना चाहिये। क्योंकि स्वभाववादी; चेतनाधातु का स्वतः सिद्ध अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे। वे मन को ही 'चेतस्' (चेत इत्याहुरेके) अथवा 'चेतना' कहते थे। उनकी दृष्टि से इस चेतना, चेतस् या मन का समवायिकारण, स्पर्शनेंद्रिय होकर स्पर्शनेंद्रिय का भी समवायिकारण धातुपंचक है। "तत्रैकं स्पर्शनेंद्रियमिंद्रियाणामिंद्रियव्यापकं चेतःसमवायि; स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि चेतः" (च. सू. अ. १३) इसमें स्पष्ट ही स्पर्शनेंद्रिय को 'चेतःसमवायि' कहा है। इस तरह स्पर्शनेंद्रिय को चेतस् का कारण कहना दूसरी भाषा में चेतना, चेतस् या मन का धातुपंचक का स्वभाव कहना ही है। अन्य संप्रदायों के द्वारा 'चेतस्समवायि' का वास्तविक अर्थ बदल कर उक्त विधानों को अपनाने का भी यत्न हुआ है पर इस तरह वास्तविक स्थिति को तिरोहित करना उचित नहीं मालूम होता।

तत्कालीन संप्रदायों में से कोई माता-पिता को, कोई आत्मा को, कोई सात्म्य को, कोई रस को तो कोई सत्व को पुरुषोत्पादक कहता ही था। उनके प्रतिवाद में भारद्वाज का यह कथन है कि:—

"नेति भारद्वाजः किं कारणं हि न माता न पिता न आत्मा न पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगो गर्भं जनयति। नच परलोकादेत्य गर्भं सत्वमवक्रामति। यदि हि मातापितरौ गर्भं जनयेतां भूयश्च स्त्रियः पुमांसश्च पुत्रकामास्ते सर्वे पुत्रजन्माभिसंधाय मैथुनधर्म्ममापद्यमानाः पुत्रानेव जनयेयुः दुहितृ वा दुहितृकामाः। नच काचित् स्त्रियः केचिद्वा पुरुषा निरपत्याः स्युः अपत्यकामाश्च परिदेवेरन्। नच आत्मा, आत्मानं जनयति। यदि हि आत्मा आत्मानं जनयेत् जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा जनयति? तच्चोभयथाप्ययुक्तम्। न जातो जनयति, सत्वात्। नचैव अजातो जनयेत् असत्वात्। तस्मादुभयथाप्यनुपपत्तिः। तिष्ठतु, अथतावदेतत् यदि अयम्, आत्मानं शक्तो जनयितुं स्यात् नत्वेनं इष्टास्वेव कथं योनिषु जनयेत्? वशिनम्, अप्रतिहतगतिं, कामरूपिणं, तेजोबलजववर्ण सत्वसंहननसत्वसमुदितम्, अजरम्, अरुजम्, अमरम् एवं विधं हि आत्मा, आत्मानमिच्छन् नित्यतो वा भूयः? असात्म्यजश्चायं गर्भो यदि हि सात्म्यजः स्यात् तर्हि सात्म्यसेविनामेव एकांतेन व्यक्त प्रजाः स्यात् असात्म्यसेविनश्च निखिलेन अनपत्याः स्युः। तच्च उभयमुभयत्रैवदृश्यते। अरसजश्चायं गर्भः, यदि हि रसजः स्यात् न केचित् स्त्रीपुरुषेषु अनपत्याः स्युः। नहि कश्चिदस्ति एषां यो रसान्नोपयुंक्ते। श्रेष्ठरसोपभोगिनां चेत् गर्भा जायंत इत्यतोऽभिप्रेतामिति। एवं सति आजौरभ्रमार्गमायूरगोक्षीर दधिमधुघृततैलसैंधवेक्षुरसमुद्गशालिप्रभृतानामेव एकांतेन प्रजाः

स्यात्; श्यामाकवरकोद्दालककोरदूषककंदमूलभक्ष्याश्च निखि-लेन अनपत्याः स्युः । तच्च उभयमुभयत्रैव दृश्यते । न खल्वपि परलोकादेत्य सत्वं गर्भमवक्रामति । यदि एनम् अवक्रामेत् न अस्य किंचिदेव पौर्वदेहिकम्, स्यात् अविदित-मश्रुतमदृष्टं वा । स च किंचिदपि न स्मरति । तस्मात् ब्रूमहे "अमातृजश्चायं गर्भः अपितृजश्च, अनात्मजश्च, असात्म्यजश्च, अरसजश्च न च अस्ति सत्वमौपपादिकम्" इति होवाच भारद्वाजः ।

यदि अयम् एषां नानाविधानां गर्भकराणामेव भावानां समुदायात् अभिनिर्वर्तते गर्भः, कथमयं संधीयते ? यदि चापि संधीयते, कस्मात्समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्य विग्रहेण जायते ? मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते; तत्रचेत् इष्टमेतत् यस्मान्मनुष्यो मनुष्यप्रभवः तस्मादेव मनुष्यविग्रहेण जायते, यथा गौः गोप्रभवः यथा च अश्वो अश्वप्रभव इति' एवं सति यदुक्तमग्रे 'समुदायात्मक इति' तत अयुक्तम् । यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, कस्मात् जडांधकुब्जमूकवामनमिम्मिण व्यंगोन्मत्तकुष्ठकिलासिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा न भवंति ? अथ तत्रापि बुद्धेरेवं स्यात् 'स्वेनैवायमात्मा, चक्षुषा रूपाणि वेत्ति, श्रोत्रेण शब्दान्, घ्राणेन गंधान्, रसनेन रसान्, स्पर्शनेन स्पर्शान्, बुद्धया बोद्धव्यम् इति' 'अनेन हेतुना न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशा भवंति' अत्रापि प्रतिज्ञा हानि-

दोषः स्यात्; एवमुक्ते हि आत्मा, सत्सु इंद्रियेषु 'ज्ञः' स्यात् असत्सु 'अज्ञः'। यत्र च एतदुभयं संभवति ज्ञत्वम् अज्ञत्वं च सविकारश्चात्मा निर्विकारोज्ञश्च? यदि च दर्शनादिभिरात्मा विषयान्वेत्ति; निरिंद्रियो दर्शनादिविरहात् अज्ञः स्यात्, अज्ञत्वात् अकारणम्, अकारणत्वाच्च 'न आत्मा' इति। वाग्वस्तुमात्रमेतत् (आत्मजः पुरुष इति) वचनमनर्थकं स्यात् इति हो वाच भारद्वाजः।" (च. शा. अ. २)

भारद्वाज की इन दलीलों का पुनर्वसु आत्रेय ने बहुत ही विस्तृत और निरपवाद उत्तर दिया है जिसको कि हम आगे अन्तिम निर्णय के समय उध्दृत करेंगे। प्रस्तुत में भारद्वाज के आत्मविषयक तथा सत्वविषयक मंतव्यों पर ही प्रकाश डालने का हमारा उद्देश है और वह उनके उक्त विधानों पर से सफल होता है। इन विधानों पर से स्पष्ट होजाता है कि भारद्वाज के स्वभाववाद में आत्मा और सत्व दोनों का स्वतःसिद्ध अस्तित्व स्वीकार ही नहीं किया जाता।

निम्न लिखित दो पंचीकरण भी मूल में भारद्वाजीय होंगे किंतु इनमें अन्य संप्रदायों ने कुछ परिवर्तन किया हुआ मालूम होता है। जैसा किः—

"सर्वद्रव्यं पांचभौतिकम् (पंचधातुकम् इति भारद्वाजीये) अस्मिन्नेवार्थे तत् चेतनावत् अचेतनं च। तस्य गुणाः

शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवांताः । कर्म पंचविध मुक्तम् ।
तत्र द्रव्याणिः—गुरुखरकठिनमंदस्थिरविषदसांद्रस्थूलगंधगुण-
बहुलानि पार्थिवानि; तान्युपचय संघात गौरव स्थैर्य
कराणि । द्रव स्निग्धशीतमंदमृदुपिच्छिलसररसगुणबहुला-
न्याप्यानि; तान्युत्क्लेदस्नेहबंधनविष्यंदमार्दवप्रल्हादकराणि ।
उष्णतीक्ष्णलघुसूक्ष्मरूक्षविषदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि; तानि
दाहपाकप्रभाप्रकाशवर्णकराणि । लघुशीतरूक्षविषदसूक्ष्मस्पर्श
गुणबहुलानि वायव्यानि; तानि रौक्ष्यग्लानिविचारवैषद्यलाघव
कराणि। मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुण बहुलान्याकाशात्मकानि;
तानि मार्दवसौषीर्यलाघव कराणि।" (च.शा.अ.२६) और:—

"तत्र यद् विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद् गुरुखर-
कठिनमंगं नखास्थिदंतवेष्टमांसचर्मवर्चः केशश्मश्रुकंडरादि
तत् पार्थिवं गंधो घ्राणं च। यद् द्रवसरमंदस्निग्धमृदुपिच्छिल-
रसरुधिरवसाकफपित्तमूत्रस्वेदादि तत् आप्यं रसो रसनं च। यत्
पित्तमूष्मा यो याच भाः शरीरे तत्सर्वं आग्नेयं रूपं दर्शनं च।
यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेषनिमेषाकुंचनप्रसरणगमनप्रेरणधारणादि
(भारद्वाज मते बुद्धिर्मनश्च) तद् वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च ।
यत् विविक्तमुच्यते महांतिचाणूनि स्रोतांसि तदांतरिक्षं च।"
(च. शा. अ. ७)

उक्त दोनों विधानों में आकाशादिकों को मूलभूत
मानकर समस्त अचेतन व सचेतन द्रव्यों को उनमें विभाजित

किया गया है। यह विभाजन जिन गुर्वादि विंशति गुणों और शब्दादि गुणों के आधार पर किया है वे भारद्वाज की दृष्टि में 'कार्यगुण' हैं; 'कारणगुण' नहीं। इसमें जिस 'रस' को जल का गुण बतलाया है वह भारद्वाज की दृष्टि में जिव्हा वैषयिक है पर उनका यह कथन है कि चूंकि जब कि छः आस्वादों में इसके साथ अन्य पृथिव्यादि धातुओं का भी अस्तित्व अनिवार्य है तब आस्वाद, पंचधातु मूलक ही हैं।

दोनों पंचीकरणों में 'वायु' धातु का जिस कदर विवेचन किया है उसपर से यह सिद्ध होता है कि भारद्वाज को चेतस् या चेतनाधातु के स्वतः सिद्ध अस्तित्व की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। चूंकि जब कि इस अंश को अन्य पंचात्मक लोकपक्षीयों ने भी जैसा का तैसा रक्खा है तब यह सिद्ध है कि वे इसका अर्थ 'करणवृत्ति' से अधिक नहीं करते थे और अपने भाव को स्पष्ट करने के हेतु से ही उक्त दूसरे पंचीकरण के अंत में "यत्प्रयोक्तृ तत्प्रधानं बुद्धिर्मनश्च" इतना अंश अधिक जोड़ दिया।

जैसा कि पहिले कहा गया है; उक्त पंचीकरणों पर से भी सिद्ध होता है कि धातुपंचकवादी, सिद्धांत पक्ष में 'मल' संज्ञक अथवा ओज, तेज, धातुप्रसाद संज्ञक द्रव्यों का पंचीकरण करके सिर्फ शरीरगत वायु, अग्नि और उदक

को वातपित्तश्लेष्मा कहना चाहते हैं। भारद्वाज, द्रव्य-प्रधानतावादी हैं। उनकी दृष्टि से वातपितश्लेष्मा भी द्रव्य ही हैं।

भारद्वाज, यद्यपि गुण वर्ग में गुर्वादि, शब्दादि, परादि सभी का अंतर्भाव करते हैं तथापि उनको गुर्वादि गुणों का ही प्राधान्यत्व मान्य है; इतना ही नहीं तो गुर्वादि गुण प्रधानता वाद के आद्य प्रवर्तक ही भारद्वाज हैं। भारद्वाज ने ही सर्व प्रथम आकाशादिकों को अप्रतीघातकत्वादि लक्षण घोषित किया। प्रायः इसी हेतु से स्वभाववाद का समर्थन करते हुए भारद्वाज ने पृथिव्यादिकों के खर द्रवादि लक्षणों का ही उल्लेख किया है; शब्दादिकों का नहीं। और वातकलाकलीय परिषद् में भी जो कि अग्नीषोमलोकपक्षीयों की थी; भारद्वाज सिर्फ गुर्वादि गुणों के आधार पर 'समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्' यह प्रतिपादन करने के लिये ही उपस्थित हुए थे।

कांकायन का प्रजापतिवाद.

वाल्हीकभिषक् कांकायनः—स्वभाववाद का खंडन करते हुएः—

> कांकायनस्तु नेत्याह नह्यारंभ फलं भवेत ।
> भवेत् स्वभावाद्भावानामसिद्धिः सिद्धिरेव वा ॥

कांकायन ने कहा कि पुरुष और रोगों की उत्पत्ति में स्वभाव को कारण कहना उचित नहीं है। समस्त भावों की सिद्धि अथवा असिद्धि यदि स्वभावतः हो, तो कर्म और फल (जिनका अस्तित्व प्रत्यक्ष सिद्ध है) संबंधी समस्याएँ हल न होंगी।

कांकायन, 'कृत' कर्मवादी थे। उनका कहना था कि किसी भी रूप में विना कर्ता के कर्म पैदा नहीं हो सकता। उसी तरह कर्मफल को भोगनेवाला भी होना चाहिये। कांकायन, अब स्वमत कहते हैं किः—

> स्रष्टात्वमित संकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः ।
> चेतनाचेतनस्यास्य जगतः सुख दुःखयोः ॥

अर्थात ब्रह्म का अपत्य प्रजापति ही जो कि अमित संकल्पकारी है; इस सचेतन और अचेतन जगत् को तथा उसके सुख दुःखों को पैदा करता है।

यह जान लेने पर कि कांकायन, वल्हीक देश के भिषक् थे और उनका प्रजापतिवाद, विशुद्ध वैदिक (ब्राह्मण ग्रंथों व उपनिषदों की सृष्टि के पूर्व का अथवा केवल मंत्रों के आधार पर प्रतिपादित) संप्रदाय है; ऐतिहासिक दृष्टि से यज्ज:पुरुषीयपरिषद् के काल निर्णय में एक साधन उपलब्ध हो जाता है अस्तु।

कांकायन का प्रजापतिवाद, जिस वैदिक मंत्र के आधार पर है वह निम्न लिखित है:—

यस्मान्न जातःपरोऽअन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सर्ठ·रराण स्त्रीणि ज्योतीर्ठ·षि सचते सषोडशी॥ (यजुर्वेद अ. ८ मंत्र १६)

अर्थात् जिससे उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है, जो समस्त भुवनों में अंतर्यामी रूप से प्रविष्ट है, जो प्रजा (सचेतन-सृष्टिगत जीवात्मा) के रूप में रमा हुआ है और जो षोडष-कलात्मक अर्थात् पूर्ण है वह प्रजापति, अपनी तीन ज्योतियों को व्यक्त करता है।

यह श्रुति, प्रजापति दैवत्या है अर्थात इस में प्रजापति का वर्णन है। कांकायन, इस प्रजापति को 'ब्रह्म' का अपत्य कहते हैं। यहां ब्रह्म, प्रजापति, उसकी तीन ज्योतियाँ और उसकी प्रजा इन पर थोडा अधिक विचार करना होगा।

क्योंकि इन शब्दों में वह सृष्टिविज्ञान है जिसको कि हम प्रजापतिवाद कहते हैं। वास्तव में देखा जाय तो 'पुरुषसूक्त' में जिस विशुद्ध वैदिक सृष्टिविज्ञान का विवेचन है उसी विज्ञान का उक्त प्रजापति दैवत्या श्रुतिं में भिन्न संज्ञाओं में उल्लेख किया है।

यहां 'ब्रह्म' शब्द से पुरुषसूक्त प्रतिपादित उस अनादि पुरुष को संबोधित किया गया है जिसका त्रिपाद अर्थात बह्वंश, 'अमृतत्व' (निर्विकार) रूप होकर एकपाद अर्थात स्वल्पांश साशन (सचेतन) अनशन (अचेतन) रूप 'विराट' में परिणत है। [पु. सू. मं १-४]

पुरुषसूक्त की भाषा में उक्त एकपाद विराट् के अभिमानी पुरुष को 'विराट्पुरुष' कहते हैं। किंतु प्रजापतिवाद की भाषा में उसी को 'प्रजापति' कहते हैं। यह, ब्रह्म का ही अंश होने के कारण कांकायन ने उसको ब्रह्म का अपत्य कहा है।

पुरुषसूक्त में यह कहा गया है कि अचेतन सचेतन विराट् को पैदा करने के पूर्व विराटपुरुष, प्रधान धर्म्मों में ('अत्यरिच्यत' मं. ५) अलग २ परिणत हुआ। इन धर्म्मों को पुरुषसूक्त में 'देव' भी कहते हैं। इन देवों के विषय में यह भी कहा गया है कि "यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि

धर्म्माणि प्रथमान्यासन् । तेह नाकं महिमानः सचंत यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः" । (पु. सू. मं. १६) अर्थात् प्रजा पति के 'प्राण' रूप देवों ने परस्पर के संगतिकरणदानरूप व्यापार के द्वारा यज्ञपुरुष की पूजा की अर्थात् अचेतन-सचेतन बिराट् पैदा किया । ये देव, जोकि वास्तव में 'धर्म्म' हैं; सर्व प्रथम पैदा हुए । सृष्टिरूपयज्ञ के विधायक उक्त प्राथमिक धर्म्म, सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व उस 'अमृतत्व' रूप त्रिपाद स्वर्ग में अनादि चतुष्पाद पुरुष की 'महिमा' होकर रहते थे जहां कि पुरा कल्प क भी साधक धर्म रहते आये हैं ।

प्रजापति दैवत्या श्रुति में इन धर्मों को 'ज्योति' शब्द से संबोधित किया है और यह स्पष्ट किया है कि उक्त धर्म 'तीन' हैं । सारांश प्रजापति, सर्व प्रथम प्राण संज्ञक तीन प्रधान धर्म्मों म परिणत होता है ।

इन धर्मों के विषय में भिन्न २ मत भी दिखाई देते हैं । उदा० 'यस्मान्न जातः' यह मंत्र यजुर्वेद में दो जगह आया है । तहां ८ वें अध्याय में भाष्यकार ने अग्नि, वायु और सूर्य इनका उल्लेख किया है और ३२ वें अध्याय में रवि, इंदु और अग्नि का । किंतु आयुर्वेद में क्रमशः वायु, अग्नि, सोम इन्हीं को स्वीकार किया है । आयुर्वेद में इनको प्राण शब्द से भी संबोधित करते हैं ।

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रजापति, जिस तरह वायु, अग्नि, सोम संज्ञक धर्मों में अतिरिक्त हुआ उस तरह वह असंख्य प्रजा (पशु पुरुष, मूर्ति, भूतात्मा अथवा जीवात्मा) ओं में भी अतिरिक्त हुआ। धर्मों का आपस में यज्ञ होकर 'भूमि' अर्थात् सप्त आवरण, (सत्य, तप, जन, मह, स्वर, भुव, भू) आकाशादि धातु, सूर्यादि लोक, ऋतु इ० अचेतन सृष्टि पैदा हुई। और तत्पश्चात् शरीर (पुरः) अर्थात् सचेतन सृष्टि पैदा हुई। सचेतन सृष्टि की पैदाइष के समय धर्मों नें यज्ञसाधनभूत 'पुरुषपशु' (जीवात्मा) का 'बर्हि' (इसका अर्थ सायणाचार्य ने 'मानस यज्ञ' किया है। किंतु सृष्टिविज्ञान की भाषा में यह उस स्थिति विशेष का बोधक मालूम होता है जिसमें कि अचेतन, सचेतन में परिणत होता है) में प्रोक्षण किया। इस प्रोक्षण के समय वसंत, घी हुआ; ग्रीष्म, समिद् हुआ और शरद, हविर्द्रव्य हुआ। इस तरह पशुपुरुष को ७ परिधियों और २१ समिधाओं से बांध दिया गया! अस्तु। अब वायु, अग्नि, सोम इन प्राथमिक धर्म्मों के विषय में कुछ अधिक विचार करना आवश्यक है।

वायुः—इसके विषय में निम्न लिखित मंत्र मननीय हैं।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राणमुच्यते।
प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

उक्त मंत्रों पर से यह भी ज्ञात होता है कि यह प्राण संज्ञक महती शक्ति ही 'मातरिश्वा' और 'वात' संज्ञक दो प्रकारों में विभक्त है। तहां 'अग्निविसर्जिका' अथवा विसर्जिका शक्ति को मातरिश्वा कहते हैं जैसाकि *आगे कहा गया है। वात शब्द गत्यर्थक है। भिक्षु आत्रेय, जिस गति को 'काळ' शब्द से संबोधित करते हैं वह ही यहां वात शब्द से

---

१ इस महती शक्ति के विषय में पाश्चात्य वैज्ञानिकों का कथन है कि द्रव्य, शक्ति, संवेदन इस त्रयी में शक्ति से इनऑर्गेनिक और ऑर्गेनिक सृष्टि अलग २ पैदा होती है। इन आर्गेनिक विभाग में प्रथम ईथर, ईथर से विद्युत्परमाणु, विद्युत्परमाणुओं से ८२ मूल द्रव्यों के परमाणु और उनसे सूर्य, पृथ्वी, मिट्टी, पाषाण, क्षार, स्फटिक इत्यादि पैदा होते हैं। आर्गेनिक विभाग में प्रथम वह आद्य जीव अथवा आद्य-जीवोत्पादक द्रव्य पैदा हुआ जिससे कि विकाश परंपरा के अनुक्षार समस्त प्राणियों की सृष्टि हुई। यह शक्ति, अविनाशिनी, परिवर्तनशीला और अनेकरूपिणी है। जड सृष्टि के कुल चमत्कार इस शक्ति के रूपांतर से ही साध्य हुए हैं। अबतक इसके दो रूप उपलब्ध हुए हैं; 'विसर्जन' और 'प्रेरणा'। प्रत्येक पदार्थ में जो विसर्जन का व्यापार हो रहा है वह इस शक्ति का ही एक प्रकार है। व्यवहार में जिनको उष्णता, (अग्नि) नाद, (वाणी) प्रकाश (तेज) विद्युत् (इंद्र, 'क इंद्रस्ताद्विद्युदिति' शतपथ ब्रा.) और चुंबकत्व कहते हैं वे गति के क्रमशः कंपन, लहरी, लघुलहरी, तनाव और आवर्त हैं। और यह गति भी प्रेरणा का एक प्रकार है। प्रेरणा के कई विशिष्ट प्रकार ऑर्गेनिक द्रव्यों में भी रहते हैं।

अभिप्रेत है। इसके उपलक्ष में ही यह विधान किया है कि यह जब ऋतुओं में परिणत होता है तब सचेतन जगत् पैदा होता है।

प्राण से ही सूर्य व चन्द्र पैदा होते हैं। सूर्य-चंद्र शब्द अग्नीषोम वाचक भी हैं। अग्नि और सूर्य की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि "परम आकाश में स्थित वह अग्नि, मातरिश्वा से पैदा हुआ। कुशलता और बल से सिलगे हुए इस अग्नि के तेज से द्यावापृथिवी प्रकाशमान हुई" (ऋ. १,१४३,२) और अन्यत्र यह भी कहा गया है कि "वायु से अग्नि और अग्नि से सूर्य पैदा हुआ।" (ऐतरेय ब्राह्मण। ८,२०) सोमोत्पत्ति के विषय में यजुर्वेद का "अपांसरस्य यो रसः" (यजु. अ. ९ मं. ३) यह मंत्र मननीय है। इसमें यह कहा गया है कि "उदकों का रस (सार अथवा मूल) सोम है और सोम का भी रस वायु है"। सारांश प्राण अथवा वायु संज्ञक महती शक्ति ही अग्नि व सोम संज्ञक धर्मों में परिणित हुई है।

वार्योविद ने इस प्राण संज्ञक शक्ति को ही 'वायु' शब्द से संबोधित किया है और उसके लोकगत तथा देहगत दोनों कार्यों का विवेचन (इसका मूल अंश हम पहिले त्रिधातु सिद्धांत पर विचार करते हुए उद्धृत कर चुके हैं) किया है। वे कहते हैं कि:—

लोक में संचार करने वाले वायु के स्वाभाविक कार्य ये हैं:- धरणी को धारण करना, (आकृष्टि) अग्नि को प्रज्वलित करना, (मातरिश्वा) सूर्य, चंद्र, ग्रह गणों को पैदा (तेजोमेघ से लोकमाला की उत्पत्ति) करना, व उनके परिभ्रमणगतियों का विधान करना, (काल) वर्षाजल को पैदा करना, औद्भिज (अद्भ्यओषधयः) सृष्टि को उगाना, ऋतुओं के प्रविभाग करना (काल) धातुओं (आकाशादि द्रव्यों) के प्रविभाग करना, उनके परिमाण और लक्षणों (अप्रतीघातकत्व चलत्व उष्णत्वादि) को व्यक्त करना, बीजों पर अकुरोत्पत्त्यनुकूल संस्कार करना, शस्य की वृद्धि करना, सडने न देना, शोषण करना, तथा अविकृत विकारों (संयुक्त द्रव्यों) को पैदा करना इत्यादि ।

शरीरगत अकुपित वायु, अवयवों (यंत्रों) को और अवयवगत व्यापारों (तंत्रों) को धारण करता है । प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान ये उसके (करणवृत्तिरूप) प्रकार हैं । यह ऊर्ध्वाधो चेष्टा ओं का (चेष्टावहा नाडियों के 'वृत्ति' यों अथवा 'वेगों' Impulses का) प्रवर्त्तक है; समस्त ज्ञानकर्मेंद्रियों का (अंतःस्थ) उद्योजक है; इंद्रियार्थों का (संज्ञावहा नाडियों के 'वृत्ति' यों द्वारा) अभिवाहक है तथा मन का (चित्त की वृत्ति यों का) उत्पादक (क्यों- कि वार्योविद सत्व तथा चेतना को स्वतःसिद्ध नहीं मानते)

व नियामक है। यह शरीरगत समस्त धातुओं में संगठन (बल) करता है; सब संधियों को जोडता है और वाणी का प्रवर्त्तक है। शब्द (नाद लहरी) व स्पर्श (मृदु, कठिन, उष्ण, शीत) की यह प्रकृति (क्यों कि लहरी कंपन इत्यादि गति विशेष, इसी के विकार हैं) है। अतः यह स्पर्शनेंद्रिय व श्रवणेंद्रिय का मूल है। यह हर्ष (मानसिक प्रसन्नता और पादहर्ष या झुनझुनी सदृश प्रतिक्रिया भी) और उत्साह (कर्म में प्रवृत्ति) का जनक है। यह, अग्नि (तत्संज्ञक धर्म व अग्निमंडलगत पित्त) को प्रज्वलित करता है; दोषों (अन्नरसगत गुणप्रसादाख्य धातुओं) का (महास्रोत की दीवाल के द्वारा धातुरस में) शोषण करता है और मलों का (क्षुद्रांत्रस्थ 'मलविवेक' संज्ञक व्यापार के द्वारा) विक्षेप करता है। यह मोट व बारीक स्रोतों को (गर्भ में) बनाता है और गर्भ की आकृति को पैदा करता है। जीवन व्यापार इसी तंत्र यंत्र धर 'वायु' का परिचय है। इ० ''

वायु के उक्त सब अकथित कार्यों का 'विक्षेप' इस एक ही शब्द में समन्वय किया गया है। क्योंकि अव्यक्त को व्यक्त करना ही उसका प्रधान कार्य है। इस संबंध में वार्योविद् का 'भावाभावकर' शब्द भी मननीय है। अस्तु.

अग्निः—ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि अग्नि, 'मातरिश्वा' से अर्थात वायु स पैदा हुआ। और यह भी

विज्ञान सम्मत है कि शक्ति का कोई भी रूपान्तर क्यों न हो उसमें उष्णता पैदा करने की प्रवृत्ति सर्वदा रहती है। इस अग्नि धर्म्म के चार रूप माने गये हैं। वेदों में इन रूपों के विषय में यह कहा गया है कि "हे अग्ने, हे तेजस्वी नृपते तुम प्रकाश में (व्यक्तावस्था में) आने के हेतु आकाश में, (तेजो-मेघ, सूर्य, नक्षत्र आदि रूपों में) उदकों में, ('विद्युदग्नि' के रूप में) पाषाणों और वनों में (घर्षणजन्य 'अरणाग्नि' के रूप में) तथा ओषधियों में (देहाग्नि के रूप में) प्रगट होते हो। (ऋ० २-१-१)

अग्नि की धार्मिकता और सर्वधर्म्म व्यापकता के विषय में यह कहा गया है कि "हे अग्ने, पहिये की चक्की जिस तरह आरों को वेष्टित करती है उस तरह तुम देवों को वेष्टित करते हो"। (ऋ० ५-१३-६) एक धर्म्म का दूसरे धर्म्म में रूपान्तर होने के समय उष्णता का पैदा होना उसकी सर्व धर्म्म व्यापकता का परिचय है।

सूर्य रूप अग्नि के विषय में यह कहा गया है कि " हे (सूर्यरूप) अग्ने, तम ऋतुओं को जानते हो; (सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि) अतः हे ऋतुपते तुम यहां (पृथ्वी पर) यज्ञ (अपने 'आदान' धर्म के द्वारा सृष्ट्युत्पादन) करो। (ऋ० १०-२-१)

षड्धातुवादी, अग्नि को चेतनाधातु का 'गुण' कहते हैं। अग्नि के विषय में यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

सोमः—वैदिक सृष्टिविज्ञान के अथवा प्रजापतिवाद के अनुसार सोम की उत्पत्ति वायु से होती है जैसा कि ऊपर 'अपां रसस्य यो रसः' इस श्रुति पर से बतलाया गया है। सोम धर्म्म के अलग अस्तित्व के विषय में यह कहा गया है कि "हे सोम, तुम्हारा धार्मिक महान् स्वरूप देदीप्यमान है"। "यह महान् शुक्र (सूर्य) और यह सोम (चन्द्र) दोनों ही सोम (धर्म्म) के पुरोगामी हैं"। (यजु० अ० ८ मं० ४९) सारांश सोम, इनसे भी परे (द्यौ में) रहता है।

सोम से पैदा होनेवाली सृष्टि के विषय में यह कहा गया है कि "त्वमिमा ओषधीः सोम व्विश्वास्त्वमपोऽअजनयस्त्वंगाः"। (यजु० ३४—२२) अर्थात हे सोम, तुम ही जलों को, पृथ्वी को, और ओषधियों को (क्रमशः) पैदा करते हो।

जलोत्पत्ति के विषय में यह कहा गया है कि "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः"। (यजु० ७-१४) अर्थात हे सोम, तुम्हारी विश्वरूपधारिणी वह संस्कृति (जलोत्पादन रूपा) पहिली है जिसमें मित्र, वरुण और अग्नि तुम्हारे भृत्य थे। रसवाद का विवेचन करते हुए यह

कहा गया है कि वैदिक ऋषि यह भली भांति जानते थे कि सचेतन सृष्टि को पैदा करने के लिये आर्तविक जलों की अत्यन्त आवश्यकता है। इन जलों को सोम (रस) पैदा करता है अर्थात सोम, जलों का प्रधान घटक है। किन्तु सोम, अकेला जलों को पैदा नहीं करता तो उसके साथ मित्र, वरुण और अग्नि भी रहते हैं अर्थात सोम के अतिरिक्त ये भी जलों के घटक हैं।

जलोत्पादन के विषय में अन्यत्र यह कहा गया है कि "मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च ऋषादसम्। धियं घृताचीं साधंता" ॥ (यजु० ३३-५७) अर्थात पावित्र्यवर्धक तथा पापक्षयकारक मित्रावरुणों को (हम) इस बुद्धि से आवाहन करते हैं कि वे शुद्ध जल का साधन करें। किन्तु यह साधन तबतक नहीं हो सकता जबतक सोम के द्वारा इनको अभिषुत न किया जाय। अतः यह कहा गया कि "अयं वां मित्रा वरुणा सुतः सोम ऋतावृधः" (यजु० ७-९) अर्थात हे यज्ञ वर्धन मित्रावरुण, तुमको सोम ने 'अभिषुत' किया। मित्र और वरुण के इस अभिषवण के समय अर्थात ही जलोत्पादन के समय (अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। यजु० ७-१६) सोम, विद्युत् से आवृत हो कर द्युलोकस्थ (मित्रावरुणाभिषवरूप) जलों को पृथ्वी पर प्रेरित करता है।

सोम की व्यापकता के विषय में यह कहा गया है कि "हे सोम, तुम ध्रुव में, मनुष्यों में, मन में, जल में, घृत में, व्योम में, पृथ्वी में, अन्तरिक्ष में, द्यौ में और स्वर्ग में रहते हो"। (यजु० ९-२) "तुम जहां रहते हो वहां वृद्धि (बल प्रयुक्त विसर्ग) होता है और यज्ञ पूर्ण होता है"। (यजु० ३६-३७) सचेतन सृष्टि को पैदा करना सोम का प्रधान कार्य है। अतः यह कहा गया है कि "सोम, ओषधि और अन्न के लिये संचार करता है"। (यजु० ९-३६)

वैदिक विज्ञान का अभ्यास करने वाले यह भलीभांति जानते हैं कि यह सोम धर्म्म, विश्वव्यापी महान् 'शैत्य' है। यह तो स्पष्ट ही है कि वैदिक ऋषि इसको अग्नि के सदृश अलग धर्म मानते थे। किन्तु कुछ समय से विद्यार्थियों को यह सिखाया जाता है कि शैत्य, स्वतंत्र धर्म्म नहीं है बल्कि उष्णता का अभाव है! किन्तु इस महाशैत्य के विषय में पश्चात्य वैज्ञानिकों के द्वारा अभी २ जो अन्वेषण हुआ है उसपर से वैज्ञानिक जगत् में इतना अवश्य ही स्वीकार कर लिया गया है कि "अणुओं की एक ऐसी स्थिति सम्भव है जिसमें कि अणु, कंपन और स्थलांतरगति रहित एवं निश्चल रहते हैं। यह कंपनविहीन अवस्था शतमान उष्णता के २७३ अंश नीचे रहती है। इस उष्णताविहीन अवस्था का (अर्थात् सोम का) आकाश में निसर्गतः रहना सम्भव है"। इस समय

द्रव्याणुओं को शून्यांश उष्णता के नीचे की स्थिति में अर्थात उष्णताविहीन स्थितिमें रखकर उसके विद्युच्चुंबकत्व आदि धर्मों की स्थिति को जांचने का यत्न हो रहा है। इस जांच पर से अबतक दो बातें निश्चित सी हो गई हैं। पहिली यह कि "किसी द्रव्य को उष्णताविहीन अवस्था में अर्थात शैत्यावस्था में रक्खा जाय तो उसके अणुओं में 'संसक्त्याकर्षण' (Cohesion) और घनता[1] (Density) की वृद्धि होती है"। दूसरी यह कि "उसकी 'रासायनिक संयोजन शक्ति' (Chemical Attraction) नष्ट होती है"। सारांश इस महाशैत्य के अर्थात सोम के स्वतंत्र अस्तित्व पर नव्य वैज्ञानिकों का भी विश्वास धीरे २ बढता जा रहा है। अस्तु.

त्रिधातुसिद्धान्तवादियों का यह कथन था ही कि "अन्नगत, देहगत, और वंशांकुरगत वातपित्तश्लेष्मा, तत्वतः इन वायुअग्निसोमसंज्ञक धर्मों के ही रूपान्तर अथवा विकास हैं। और उनका यह कथन प्रजापतिवाद का पोषक ही है। किन्तु त्रिधातु सिद्धान्तवादी इस बात पर विचार नहीं करते थे कि इन धर्मों का बिना किसी आश्रय के रहना संभव है या नहीं। क्योंकि उनकी दृष्टि से सत्व और चेतना दोनों

---

१ आयुर्वेदांतर्गत 'बल' शब्द, संसक्त्याकर्षण और घनता दोनों का वाचक है।

ही इन त्रिधातुओं का अथवा रस का परिणाम होने के कारण वे आत्मा, प्रजापति, ईश्वर इनमें से किसी का भी स्वतःसिद्ध अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे। त्रिधातुवादियों के उक्त शिरो विहीन सिद्धान्त का वैदिक ऋषि, घोर विरोध करते थे और उनको यज्ञों में निमंत्रित नहीं करते थे। अन्त में जब अश्विनीकुमारों ने प्रजापति का अस्तित्व स्वीकार किया अर्थात त्रिधातुसिद्धान्त को 'सशिरस्क' बनाया तब कहीं वे यज्ञों में निमंत्रित किये जाने लगे। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख सुश्रुत संहिता के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में भी किया है अर्थात यह घटना वैदिक काल में हुई है।

प्रजापतिवादानुसार समस्त जगत् की परिणति या व्यक्ति में यद्यपि उक्त धर्म्मत्रय प्रधान कारण हैं तथापि उनके साथ प्रजापति की अमित कल्पकता का साहचर्य भी आवश्यक है। प्रजापति का यह संकल्प, त्रिधातुओं की सृष्टि नहीं है। वह प्रजापति का 'ज्ञातृत्व' है। वेदों में इसको 'आजानदेव' कहते हैं। वैदिक-सृष्टि-विज्ञान के अनुसार यह संकल्प भी कल्पांत में 'अमृतत्व' में उसकी महिमा होकर रहने वाला और कल्प के आदि में वहीं से व्यक्त होने वाला धर्म्म है। इसकी व्यक्ति, त्रिधातुओं के पहिले भले ही हुई हो पर इस संकल्प का त्रिधातुओं में परिणत होना प्रजापतिवादियों को सम्मत

नहीं है जिस तरह षड्धातुवादियों की दृष्टि से चेतनाधातु का ज्ञातृत्व, सत्वरूप होकर कर्तृत्व, अप्रतीघातकत्वादि पंचगुण रूप है उस तरह प्रजापतिवादियों की दृष्टि से प्रजापति का ज्ञातृत्व, संकल्प रूप होकर कर्तृत्व त्रिज्योति रूप है। दोनों के मत से ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में जन्यजनक सम्बन्ध नहीं है किन्तु 'अन्योन्यानुविधायित्व' अवश्य है।

यह मालूम नहीं हुआ कि आकाश के विषय में प्रजापति-वादियों का क्या कथन है। अर्थात यह विषय भविष्य में विचारणीय है।

प्रजापतिवाद में गुर्वादि गुणों को प्रधान माना जाता है। क्योंकि कांकायन, वातकलाकलीयपरिषद् में उपस्थित थे और वहां उन्होंने 'प्रकोपन विपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणम्' इस वक्तव्य के द्वारा गुर्वादिगुणप्रयुक्त प्रकोपनप्रशमन का समर्थन किया है।

कांकायन, रस परिषद् में भी उपस्थित थे। उनका रस विषयक मत उनके "अपरिसंख्येया रसा इति कांकायनो वाल्हीकभिषक् आश्रय गुण कर्म संस्वाद विशेषाणामपरि संख्येयत्वात्" इस वक्तव्य पर से व्यक्त होता है।

भिक्षु आत्रेय का कालवाद

भिक्षु आत्रेयः—कांकायन के प्रति भिक्षु आत्रेय ने यह कहा किः—

तन्नेति भिक्षुरात्रेयो न ह्यपत्यं प्रजापतिः ।
प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युञ्ज्यादसाधुवत् ॥

अर्थात् प्रजापति को पुरुषरोगोत्पादक कहना अनुचित है । क्योंकि जो प्रजा का हितचिंतक है वह असत् पुरुष की तरह अपने ही अपत्यों को सर्वदा दुःख में नहीं डाल सकता।

उक्त निषेध में उतनी ही रोचकता है जितनी कि सत्ववादी शरलोमा के 'दुःख द्वेषी आत्मा खद को दुःख में नहीं डाल सकता' इस विधान में है । अस्तु, अब स्वमत कहते हैं किः—

कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चामयाः ।
जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥

अर्थात् पुरुष, काल से ही पैदा होता है, उसके रोग भी काल से पैदा होते हैं, समस्त जगत् कालाधीन होकर काल सर्वत्र कारण है ।

ऋतुओं का और उनके शीत, उष्ण, वर्ष लक्षणों का जब अधिक अभ्यास होने लगा तब यह मालूम हुआ कि उद्भिज स्वेदज, अंडज, जरायुज आदि सभी प्राणिजातियाँ प्रायः किसी खास ऋतु में पैदा होती हैं, निश्चित समय तक रहती हैं, और निश्चित ऋतु या अवस्था में नष्ट हो जाती हैं। इनमें उगाई, बहार, पतझड, चय, प्रकोप, प्रशम, आदि जो प्रत्यक्ष परिवर्तन हुआ करते हैं वे ऋतुओं के मुख्यतः उष्ण, शीत, वर्ष लक्षणों के अनुसार होते हैं। जनपदो-ध्वंसक कारणों की उत्पत्ति में भी ऋतुओं का अथवा शीतोष्ण-वर्ष लक्षणों का विपर्यय ही कारण है। उक्त लक्षणों का अधिक अभ्यास करने पर यह भी ज्ञात हुआ कि शैत्य के कारण सृष्टि में मुख्यतः बलोत्पत्ति अर्थात् संगठन होता है, उष्णता के कारण बल का अपहरण होता है और वर्षा के कारण वायु प्रकुपित होकर फेंकने की क्रिया होती है। इन व्यापारों को संक्षेप में विसर्ग, आदान और विक्षेप इन नामों से संबोधित किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त यह घटना नित्य के परिचय की थी कि:—शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि। तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः। (सु० सं०) इ०।

उस समय अयनगति के आधार पर संवत्सरात्मक काल के दो विभाग किये जाते थे; उदगयन और दक्षिणायन।

भारतवर्ष की दैशिक स्थिति के अनुसार साधारणतः उद्गयन में आदान, दक्षिणायन में विसर्ग और इनकी संधि में वर्षा होती है। अतः तत्कालीन समाज ने उद्गयन में शिशिर वसंत ग्रीष्म और दक्षिणायन में वर्षा शरद् हेमंत इस प्रकार ऋतु विभाग किये। उक्त समस्त काल विभागों का भी सूर्य सोम वायुओं के परिभ्रमणों के साथ प्रत्यक्ष ही संबंध प्रतीत हो रहा था।

इस तरह एक समय यह सर्व संमत था कि "चंद्र, सूर्य, वायु इन जागतिक विभूतियों के स्वभावों तथा परिभ्रमण मार्गों के कारण ही संवत्सरात्मक काल, विसर्गादानविक्षेपात्मक अथवा शीतोष्णवर्षलक्षण (शीतोष्णवर्षलक्षणः कालः) होकर कलाकाष्ठादि, अहोरात्र, पक्ष, ऋतु, अयन इन विभागों में विभक्त है। सारांश काल, चंद्रसूर्यवायु इनका 'परिणाम' (कालः पुनः परिणामः) है"

षड्रसवादी कहते थे कि ये सोमसूर्यवायु ही अपने स्वभावों तथा मार्गों के कारण संवत्सर, ऋतु, रस, दोष, देह, बल इन को क्रमशः पैदा करते हैं। और किसी समय इनकी देहगत दोषों के साथ तुलना व एकता प्रदर्शित करने के हेतु से यह भी कहा जाता था कि:—

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च॥

और:—

[1]विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयंति जगद्देहं कफपित्तानिला तथा ॥ ३०

किंतु जब इन सब घटनाओं का तात्विक दृष्टि से विचार होने लगा तब इस विषय में भिन्न २ मत प्रकट किये जाने लगे।

धातुपंचकवादियों का कहना था कि जब कि सोमसूर्य-वायु, तत्वतः धातुपंचक से अतिरिक्त नहीं हैं तब संवत्सरात्मक काल भी धातुपंचक का ही परिणाम है।

---

१ त्रिधातुसिद्धांत या प्रजापतिवाद के अनुसार यहां अनिल, सूर्य, सोम शब्दों से धर्मत्रयी का भी ग्रहण किया जा सकता है। पर उस अवस्था में विक्षेप का अर्थ 'व्यक्तीभवन' होगा। क्योंकि भिक्षु आत्रेय ने काल को और उक्त दोनों संप्रदायोंने वायु को 'जगद्व्यक्तिकर' अथवा 'भावकर' ही सिद्ध किया है। अन्यत्र भी विक्षेप का अर्थ 'सूक्ष्म का स्थूल में अथवा एक का अनेक में परिणत होना' ही किया गया है। जैसा कि 'द्वे रूपे निश्चिते पूर्वे मायायाः कुलनंदन। विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत् ॥ लिंगाद्य ब्रह्म-पर्यंतं सूक्ष्म स्थूल विभेदतः। अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति ॥ इस पर से व्यक्त होता है। 'विसर्ग' और 'आदान' शब्दों से 'संसक्त्याकर्षण' तथा 'घनता' के अर्थात ही बल के वृद्धि-क्षयों को स्वीकार करना उचित है।

षड्धातुवादियों का भी यही कथन था पर वे धातु-पंचक को अप्रतीघातकत्वादि गुण मात्र मानते थे। अतः उनकी दृष्टि से संवत्सरात्मककाल गुणों का परिणाम सिद्ध होता था।

अग्नीषोमवादियों की दृष्टि मुख्यतः अग्नीषोम संज्ञक धर्म्म द्वय पर थी। वे काल को इन धर्म्मों का ही परिणाम समझते थे। धातुपंचकवादियों के प्रति उनका यह कथन था कि 'धातुपंचक में प्रतीत होने वाले गुर्वादिगुण जब कि उष्ण व शीत इन दो प्रधान वीर्यों के विविध संयुक्त परिणाम हैं और उक्त जागतिक विभूतियों में भी इनका ही अस्तित्व प्रतीत होता है तब उक्त विभूतियाँ और पंचधातु तत्वतः अग्नीषोमात्मक हैं। उसी तरह संवत्सरात्मक काल में भी जब कि उष्ण शीत प्रयुक्त आदानविसर्गात्मक दो ही प्रधान विभाग दिखाई देते हैं तब काल भी अग्नीषोम का ही परिणाम है। अग्नीषोम-वादियों के इस वक्तव्य को अष्टांगसंग्रह में "अन्ये तु गुर्वादीनामग्नीषोमात्मकत्वात् आदानविसर्गविभागेन कालस्य च उष्णशीतात्मकत्वात् द्विविधमेवामनंति।" (अ. सं. सू. अ. १७) इस तरह उद्धृत किया है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि उक्त सब संप्रदाय, काल विषयक अपना मत स्थिर करने के समय

मुख्यतः शीतोष्णवर्षलक्षणों अथवा स्वभावों पर ही ध्यान रखते थे। परिभ्रमण गतियों पर उनका समुचित लक्ष्य नहीं था।

किंतु भिक्षु आत्रेय का ध्यान इन परिभ्रमण गतियों पर था। वे एक ऐसी विश्वव्यापिनी गति या शक्ति का अनुभव करते थे जो कि उक्त स्वभाव तथा मार्गों की जनयित्री है। अन्वेषण से उनको यह भली-भांति ज्ञात हुआ कि समस्त जगत में जो कुछ भी हलचल (कलयति) या संगठन (कालयति) है वह इसके ही कारण है। यह एक कला भी स्थिर या तिरोहित (कलां न लीयते) नहीं होती। और वह उत्पत्तिविनाश रहित (अनादि निधनः) है। वे इसको 'काल' शब्द से संबोधित करते थे। और यह प्रतिपादन करते थे कि:—

तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्ग परिगृहीताः; काल, ऋतु, रस, दोष, देह, बल, निर्वृत्ति प्रत्ययभूताः समुपदिश्यंते। (च. सू. अ. ६)

अर्थात् ये सूर्यवायुसोम, उस काल संज्ञक शक्ति के स्वभावों और मार्गों से परिगृहीत (व्याप्त) हैं अर्थात् इनमें जिन उष्णत्वादि स्वभावों और परिभ्रमण मार्गों की प्रतीति होती है व तत्वतः उस काल संज्ञक गति के प्रकार हैं। और

इसीसे ये संवत्सर, ऋतु, रस, दोष, देह, बल इनकी उत्पत्ति में कारण कहे जाते हैं।

भिक्षु आत्रेय की इस घोषणा पर से यह भी ज्ञात होगा कि वे धातुपंचक, गुणपंचक और अग्नीषोम धर्म्म इनका सबका समन्वय काल में करते थे। क्योंकि वे सर्वत्र काल को ही कारण मानते थे, समस्त जगत् को कालवश समझते थे और इसी हेतु काल को पुरुष रोगोत्पादक कहते थे।

यह हम पहिले बतला चुके हैं कि इस काल का समन्वय वायु में और उस वायु का भी समन्वय प्रजापति में किस कदर किया गया।

पुनर्वसु आत्रेय का निर्णय और त्रिभागात्मक सिद्धांत

पुनर्वसु आत्रेयः—'तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसः' अर्थात इस तरह विवाद करते हुए ऋषियों के प्रति पुनर्वसु आत्रेय ने कहा किः—

मैवं वोचत तत्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात् ॥
वादान् स प्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव ।
पक्षान्तं नैव गच्छांति तिलपीडकवद् गतौ ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिंत्यताम् ।
नाविधूततमस्कंधे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥
येषामेव हि भावानां संपत्संजनयेन्नरम् ।
तेषामेव विपद् व्याधीन्विविधान्समुदीरयेत् ॥

अर्थात आप लोग इस तरह विवाद करना छोड दें। क्योंकि किसी एक ही पक्ष को स्वीकार करने से सत्य तत्व दुर्लभ हो जाता है। जिस तरह तेली अपनी घानी को ही चक्कर लगाता रहता है उस तरह यदि आप अपने ही पक्ष को ठीक समझकर खंडनमंडन करते रहेंगे तो सर्व सम्मत निर्णय पर नही पहुँच सकेंगे। अतः इस वाद संघर्ष को छोड कर 'अध्यात्म' का चिंतन कीजिये। जबतक पक्षराग-

रूप मल धुल नही जाता तबतक जिज्ञास्य विषय में बुद्धि प्रवेश नही करती। वास्तविक सिद्धांत यह है कि "जिन 'भावों' की 'संपदा' से पुरुष पैदा होता है उनकी 'विपदा' से व्याधियाँ पैदा होती हैं"।

काशीपति वामक का मुख्य सवाल यह था कि 'जिन कारणों से पुरुष पैदा होता है उन कारणों से उसको रोग होते हैं या नही'। इसका उत्तर सभी ऋषियों ने यह दिया कि 'जिन कारणों से पुरुष पैदा होता है उन्ही से उसको रोग भी होते हैं'। पुनर्वसु आत्रेय ने उसी का कुछ संशोधन करके यह निर्णय दिया कि "पुरुषरोगोत्पत्ति में क्रमशः भावों की 'संपदा' और 'विपदा' कारण है"।

किंतु काशीपति के दूसरे सवाल के विषय में अर्थात 'पुरुष, किन कारणों से पैदा होता है' इसके विषय में ऋषियों में गहरा मतभेद था। अतः अब यह देखना आवश्यक है कि इस विषय में पुनर्वसु आत्रेय का अंतिम निर्णय क्या है।

इस पर विचार करने के पहिले यह ध्यान में रखना चाहिये कि यज्जःपुरुषीय परिषद् में जितने भी ऋषि अथवा सम्प्रदाय उपस्थित थे उनमें आत्मा को स्वतःसिद्ध न मानने वाले चार संप्रदाय थे। इनमें दो अग्नीषोम लोकपक्षीय

और दो पंचात्मक लोकपक्षीय थे। तहां अग्नीषोम लोकपक्षीयों का विरोध अधिक प्रबल नहीं था। क्योंकि प्रजापतिवाद का उनपर काफी प्रभाव पड चुका था। किंतु पंचात्मकलोकपक्षीयों में भारद्वाज एक ऐसे प्रभावशाली पुरुष थे कि जिनको षड्धातुवादी, आत्मवादी, कर्मवादी और सत्ववादी मिलकर भी समझा न सके। पुनर्वसु आत्रेय ने भी षड्धातुवाद का पक्ष लेकर (क्योंकि भारद्वाज, पंचात्मकलोकपक्षीय थे अतः उनको पंचात्मकलोकपक्ष के सिद्धांन्तों के द्वारा समझाना ही युक्तियुक्त और सरल था) इनको समझाने का यत्न किया। इस प्रकार के एक प्रसंग को हम यहां उद्धृत करते हैं।

'गर्भावक्रांति' पर विचार करते हुए पुनर्वसु आत्रेय ने यह कहा था कि 'मातृजश्चायं गर्भः, पितृजश्च आत्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्च; अस्ति च खलु सत्वमौपपादुकम्' (च. शा. अ. ३) अर्थात माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, इन सब कारणों से गर्भ पैदा होता है और सत्व, इनका सबका संबंध विधायक है। किंतु भारद्वाज ने इनका सबका अलग २ खंडन किया। भारद्वाज के उस वक्तव्यको हम स्वभाववाद के विवेचन में उद्धृत कर चुके हैं। पुनर्वसु आत्रेय ने षड्धातुवादानुसार इसका जो उत्तर दिया वह निम्न लिखित है। जैसा किः—

"नेति भगवान् आत्रेयः, सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते। मातृजश्चायं गर्भः, न हि मातुर्विना गर्भोत्पत्तिः स्यात् न च जन्म जरायुजानाम्। पितृजश्चायं गर्भः, न हि पितूऋते गर्भोत्पत्तिः स्यात् न च जन्म जरायुजानाम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य मातापितृजानि मातापितृतः संभवतः संभवंति, तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च बस्तिश्च पुरीषाधानं च आमाशयश्च पक्वाशयश्च उत्तरगुदं च अधरगुदं च क्षुद्रान्त्रां च स्थूलान्त्रं च वपा च वपावहनं चेति मातृजानि। केशश्मश्रुनखलोमदंतास्थि-सिरास्नायुधमन्यः शुक्रमिति पितृजानि।

आत्मजश्चायं गर्भो, गर्भात्मा हि अंतरात्मा यः, तं 'जीव' इत्याचक्षते। शाश्वतमरुजमजरममरमक्षरमभेद्यमच्छे-द्यमलोठ्यं विश्वरूपं विश्वकर्माणम् अव्यक्तमनादिमानिधनमक्षर-मपि स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मानम्। आत्म संज्ञा हि गर्भे, तस्य पुनरात्मनो जन्म अनादित्वान्नोपपद्यते। तस्माद् जात एव गर्भं जनयति, अजातो हि अयम् अजातं गर्भं जनयति, स चैव गर्भः कालां-तरेण बालयुवस्थाविरतां प्राप्नोति, स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्तते, तस्यां तस्यां जातो भवति। या त्वस्य पुरस्कृता, तस्यां जनिष्यमाणश्च। तस्मात् स एव जातश्च अजातश्च युगपद्-

भवति । यस्मिंश्चैतदुभयं संभवति जातत्वं जनिष्यमाणं च स जातो जन्यते स चैव अनागतेष्ववस्थांतरेषु अजातो जनयत्यात्मानम् । सतो हि अवस्थांतरगमनमात्रमेव हि 'जन्म' चोच्यते तत्र तत्र वयसि तस्यां तस्यां अवस्थायाम् । यथा सतामेव हि शुक्रशोणितजीवानां प्राक्संयोगात् गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगात् भवति, यथा सतस्तस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात् पितृत्वं न भवति, तच्च अपत्यात् भवति तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यां अवस्थायाम् जातत्वं अजातत्वं चोच्यते ।

न खलु गर्भस्य मातुर्नपितुर्नात्मनः सर्वभावेषु यथेष्ट कारित्वमास्ति । ते किंचित् स्ववशात् कुर्वंति, किंचित् कर्मवशात् कचिच्चैषां करणशक्तेर्भवति कचिन्न भवति । यत्र सत्वादि करणसंपत् तत्र यथाबलमेव यथेष्टकारित्वम्; अतोऽन्यथा विपर्ययः । न च करणदोषात् अकारणमात्मा संभवति गर्भजनने, दृष्टं च इष्टयोनिरैश्वर्यं मोक्षश्च आत्मविद्भिः आत्मायत्तम् । न हि अन्यः सुखदुःखयोः कर्ता, नच अन्यतो गर्भो जायते जायमानः, न च अकुंरोत्पत्तिरबीजात् ।

यानि तु खलु अस्य गर्भस्य आत्मजानि यानि चास्य आत्मतः संभवतः संभवंति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा तासु तासु योनिषु उत्पत्तिः, आयुः, आत्मज्ञानं, मनः, इंद्रियाणि, प्राणापानौ, प्रेरणं, धारणम्, आकृतिस्वरवर्णविशेषाः, सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, चेतना, धृतिर्बुद्धिः, स्मृतिरहंकारःप्रयत्नश्चेत्यात्मजानि ।

सात्म्यजश्चायं गर्भः न ह्यसात्म्यसेवित्वमंतरेण स्त्रीपुरुषयोर्वन्ध्यत्वमास्ति गर्भेषु वाप्यनिष्टो भावः, यावत् खलु असात्म्य सेविनां स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पंतो न शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यंते, तावत् समर्था गर्भजननाय भवंति । सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणाम् अनुपहत शुक्रशोणितगर्भाशयानाम् ऋतुकाले सन्निपतितानां जीवस्य अनवक्रमणात् गर्भा न प्रादुर्भवंति । नहि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भः, समुदायोऽत्र कारणमुच्यते । यानि खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि, यानि चास्य सात्म्यतः संभवतः संभवंति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा-आरोग्यमनालस्यमलोलुपत्वमिंद्रियप्रसादः स्वरवर्णबीजसंपत्प्रहर्ष भूयस्त्वं चेति सात्म्यजानि ।

रसजश्चायं गर्भः न हि रसादृते मातुः प्राणयात्रापि स्यात् किं पुनर्गर्भ जन्म । न चैवम् असम्यगुपयुज्यमाना रसा गर्भमभिनिर्वर्तयंति । न च केवलं सम्यगुपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिर्वृत्तिर्भवति । समुदयोऽप्यत्र कारणमुच्यते । यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि, यानि चास्य रसतः संभवतः संभवंति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा शरीरस्याभिनिर्वृत्तिः अभिवृद्धिः प्राणानुबंधः तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति रसजानि ।

अस्ति खल्वपि सत्वं उपपादुकम्, यत् जीवं 'स्पृक्शरीरेण' अभिसंबध्नाति, यस्मिन् अपगमनपुरस्कृते शीलमस्य

व्यावर्तते भक्तिर्विपर्यस्यते सर्वेंद्रियाण्युपतप्यंते बलं हीयते व्याधय आप्यायंते, यस्माद्धीनः प्राणान् जहाति यत् इंद्रियाणामभिग्राहकं च 'मन' इत्यभिधीयते, तत् त्रिविधमाख्यायते शुद्धं राजसं तामसमिति। येनास्य खलु प्रयतो भूयिष्ठम्, तेन द्वितीयायां वा जातौ संप्रयोगो भवति, यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जातेरतिक्रांताया अपि स्मरति। स्मार्तं हि ज्ञानम् आत्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबंधादनुवर्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो 'जातिस्मर' इत्युच्यते इति सत्वमुक्तम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्वजानि यान्यस्य सत्वतः संभवतः संभवंति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तंद्रोत्साहस्तैक्ष्ण्यं मार्दवं गांभीर्यम् अनवस्थितत्वम् इत्येवमादयश्चान्ये, ते सत्वविकाराः तान् उत्तरकालं सत्वभेदमाधिकृत्य उपदेक्ष्याम इति सत्वजानि। नानाविधानि खलु सत्वानि, तानि एकपुरुषे भवंति, न च भवंत्येककालम्, एकं तु प्रायो 'वृत्त्या' आह।

एवमयम् नानाविधानाम् एषां गर्भकराणां भावानां समुदयात् अभिनिर्वर्तते गर्भो यथा कूटागारं नाना द्रव्यसमुदायात् यथा वा रथो नाना रथांगसमुदायात्। तस्मादेतदवोचाम 'मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्च आत्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्च अस्ति च सत्वं उपपादुकम्' इति होवाच भगवानात्रेयः"।

पुरस्तादेतत् प्रतिज्ञातं 'सत्वं' जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसंबध्नाति इति। यस्मात्त समुदायप्रभवः सन् स गर्भो मनुष्य-

विग्रहेण जायते, मनुष्यो मनुष्यप्रभव उच्यते तद्वक्ष्यामः। भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति, जराय्वंडस्वेदोद्भिदः। तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैका योनिरपरिसंख्येयभेदा भवति, भूतानामाकृतिविशेषापरिसंख्येयत्वात्। तत्र जरायुजानामंड जानां प्राणिनामेते यां यां गर्भकरा भावा योनिमापद्यंते, तस्यांतस्यां योनौ तथा तथा रूपा भवंति, तद्यथा कनकरजतताम्रत्रपुसीसकानि तेषु तेषु मधूच्छिष्ट विग्रहेषु। ते यदा मनुष्यबिंबमापद्यंते तदा मनुष्यविग्रहेण जायंते, तस्मात् समुदायात्मकः सन् गर्भो मनुष्य विग्रहेण जायते, मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते; तद्योनित्वात्। यच्चोक्तं 'यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितसदृशरूपा भवंतीति' तत्रोच्यते यस्य यस्यावयवस्य बीजे बीज भाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्यावयवस्य विकृतिरुपजायते नोपजायते चानुपतापात्, तस्मा-दुभयोपपत्तिरप्यत्र। सर्वस्य च आत्मजानि इंद्रियाणि। तेषां भावाभावहेतुर्दैवम्। तस्मान्नैकान्ततो जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवंति।

न च आत्मा, सत्सु इंद्रियेषु असत्सु वा भवति अज्ञः। न हि असत्वः कदाचिदात्मा। सत्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति। भवतिचात्रः—

न कर्तुरिंद्रियाभावात् कार्यज्ञानं प्रवर्तते।
या क्रिया वर्तते भावैः सा विना तैर्न वर्तते॥

जानन्नपि मृदोऽभावात् कुंभकृन्न प्रवर्तते ।
श्रूयतां चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत् ॥
इंद्रियाणि च संक्षिप्य मनःसंक्षिप्य चंचलम् ।
प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः ॥
सर्वत्रावहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते ।
गृण्हीष्व चेदमपरं भरद्वाज विनिणर्यम् ॥
निवृत्तेंद्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतान् यदा ।
विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः ॥
आत्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किंचिन्न वर्तते ।
न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥
तस्मात् ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च ।
सर्वमेतत् भरद्वाज निर्णीतं जहि संशयम् ॥ इति.

अर्थात् गर्भोत्पत्ति में उक्त माता पिता आदि भावों का 'समुदाय' कारण है। क्योंकि बिना माता-पिता के गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती; विशेषतः जरायुज प्राणियों का जन्म नहीं हो सकता। गर्भ के कुछ अवयव (त्वचा, लोहित, मांस, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, वृक्कद्वय, बस्ति, पुरीषाधान, आमाशय, पक्वाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रांत्र, स्थूलांत्र, वपा और वपावहन) माता के अंश से पैदा होते हैं और कुछ अवयव (केश, श्मश्रु, नख, लोम, दंत, अस्थि, सिरा, स्नायु, धमनी, और शुक्र) पिता के अंश से।

आत्मा से भी गर्भ पैदा होता है। यहां 'आत्मा' शब्द से उस 'समुदायात्मक आत्मा' को समझना चाहिये जिसको कि गर्भात्मा, अंतरात्मा अथवा जीव कहते हैं। वह अपनी विशुद्ध अवस्था में शाश्वत, अरुज, अजर, अमर, अक्षय, अभेद्य, अलोठ्य, [जिसको कि प्रतीघात नहीं किया जा सकता.] विश्वरूप, विश्वकर्मा, अव्यक्त, अनादि, अनिधन और अक्षर होते हुए भी गर्भाशयगत बीज फल संयोग में प्रविष्ट होकर अपने आपको गर्भ के रूप में पैदा करता है। तदनुसार गर्भ को भी आत्म संज्ञा है। इस तरह यद्यपि गर्भात्मा पैदा होता है तथापि विशुद्धावस्थ आत्मा अनादि होने के कारण पैदा नहीं होता। अतः अजात आत्मा ही अजात गर्भ को पैदा करता है। चूंकि जब कि यह अजात आत्मा, अजात गर्भ का जनन करता है और वह गर्भ भी कालांतर से बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाएँ प्राप्त करता है तब यह कहना उचित ही है कि वह जिन २ अवस्थाओं में रहता है उन २ अवस्थाओं में 'जात' है और जो अवस्थाएँ उसे भविष्य में प्राप्त होने वाली हैं उनके अनुसार 'अजात'। अतः आत्मा 'जात' भी है और 'अजात' भी। इस तरह जिसमें जातत्व और जनिष्यमाणत्व दोनों ही संभव है वह एक अवस्था में पैदा होकर दूसरी अवस्था को पैदा करता है। और वह ही अनागत अवस्थाओं में 'अजात' होकर (उन अग्रिमा अवस्थाओं में)

अपने आपको पैदा करता है। उसका एक अवस्था में से दूसरी अवस्था में जाना ही 'जन्म' है चाहे वह भिन्न २ शरीर हों अथवा शरीर की भिन्न २ वयो मर्यादा हों। जिस तरह शुक्र, शोणित और जीव इनके संयोग के बाद ही गर्भ को गर्भत्व प्राप्त होता है; अन्यथा नहीं होता अथवा जिस तरह संतान पैदा होने के बाद ही पुरुष को पितृ-पद प्राप्त होता है; अन्यथा नहीं होता उसी तरह गर्भात्मा को भी भिन्न २ अवस्थाओं में जातपद और अजातपद प्राप्त होता है।

फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि माता, पिता अथवा आत्मा, गर्भ की सब बातें अपनी इच्छा के अनुसार पैदा नहीं कर सकते। क्योंकि कुछ बातें इनकी इच्छा के अनुसार तो कुछ पूर्वजन्मार्जित कर्म के अनुसार तो कुछ करणशक्ति के अनुसार होती हैं अथवा नहीं भी होतीं। जहां सत्व आदि करणों की संपदा रहती है वहां संपदा के बल के अनुसार यथेष्टकारित्व रहता है अन्यथा नहीं रहता। किंतु इस पर से यह नहीं कहा जा सकता कि 'यदि करणदोष के कारण गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती तो गर्भोत्पत्ति में आत्मा कारण नहीं है'। क्योंकि आत्मविद् पुरुषों ने यह अनुभव करके देखा है कि इष्टयोनि, ऐश्वर्य और मोक्ष आत्मा के ही आधीन हैं। सुख दुःखों का कर्ता और गर्भोत्पादक, आत्मा के सिवाय कोई नहीं है। जो बढता है वह आत्मा से भिन्न नहीं है अर्थात बीज के बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

भिन्न २ योनिओं में जन्म, आयुष्य, आत्मज्ञान, मन, इंद्रिय, प्राणापान, प्रेरणा, धारणा, आकार, स्वर, वर्ण, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, व प्रयत्न ये सब आत्मा से प्राप्त होते हैं।

सात्म्य, भी गर्भोत्पादक है। सात्म्यसेवन के अभाव से स्त्री पुरुष दोनों को वंध्यत्व आता है; अथवा गर्भ में अनिष्ट बातें पैदा होती हैं। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जब तक असात्म्यसेवी स्त्री-पुरुषों के प्रकुपित वात-पित्तश्लेष्मा, समस्त शरीर में संचार करके शुक्र, आर्तव व गर्भाशय को हानि नहीं पहुंचाते तब तक ही वे (स्त्री पुरुष) गर्भोत्पादन में समर्थ रहते हैं। सात्म्यसेवी स्त्री-पुरुषों को भी संतति नहीं होती। इसका कारण उनके बीज फल संयोग में (कर्मवशात) आत्मा प्रविष्ट नहीं होता। केवल सात्म्य से भी गर्भोत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उसमें समुदाय ही कारण है। सात्म्य से आरोग्य, अनालस्य आदि भाव पैदा होते हैं।

रस से भी गर्भोत्पत्ति होती है। बिना अन्नरस के माता की जीवन यात्रा तक नहीं हो सकती फिर गर्भ जन्म तो दूर रहा। अयोग्य रीति से रस सेवन किया जाय तो गर्भोत्पत्ति नहीं होती; ना ही केवल सम्यक् रससेवन से ही गर्भोत्पत्ति होती है। सारांश उक्त समुदाय ही कारण है।

रस से गर्भोत्पादक द्रव्यों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है; गर्भस्थ प्राणों का समुचित संबंध होताहै और तृप्ति-पुष्ट्यादि भाव पैदा होते हैं।

•

सत्व भी संबंध विधायक अर्थात् औपपादुक है। यह स्पर्शेंद्रिय के द्वारा (क्योंकि स्पर्शेंद्रिय में सत्व का संचार रहता है.) जीव और शरीर में संबंध प्रस्थापित करता है। जब (मरण के समय) यह स्पर्शेंद्रिय से बाहर जाने को उद्यत होता है तब प्राणी का स्वभाव बदल जाता है; अभिरुचि का विपर्यास होता है; इंद्रिय उपतप्त होते हैं; बलक्षय होता है और रोग, अत्यधिक कृश कर देते हैं। जब यह शरीर को छोड़ देता है तब प्राण भी शरीर को त्याग देते हैं। इंद्रियों को अपने २ विषयों के ग्रहण में प्रवृत्त करनेवाले को ही 'मन' कहते हैं। वह तीन प्रकार का है शुद्ध, राजस् और तामस्। इस जन्म में इन गुणों में से जो गुण अधिक रहता है उसी का अगले जन्म में संबंध रहता है यदि इस जन्म में मन शुद्ध हो, तो उसे गत जन्मों का स्मरण होता है। यह स्मृतिजन्य ज्ञान, आत्मा में रहता है और उसीसे प्राप्त होता है। मन का उसके साथ अनुबंध रहता ही है। ऐसी अवस्था में यदि मन शुद्ध हो तो उसकी वृतियाँ, आत्मा के स्मार्त ज्ञान में परिणत होती हैं और इसी हेतु से पुरुष को 'जातिस्मर' कहा

जाता है। सत्व के कारण भक्ति, शील, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय, क्रोध, तंद्रा, उत्साह, तैक्ष्ण्य, मार्दव, गांभीर्य, अनवस्थितत्व (अस्थिरता) आदि भाव तथा वे सब सत्वज विकार जिनका सत्व के प्रकारों के विवेचन में (देखो परिशिष्ट) उपदेश किया जायगा पैदा होते हैं।

सारांश इस तरह उक्त गर्भोत्पादक भावों के समुदाय से गर्भ, पैदा होता है। जिस तरह लकडी, मिट्टी, पत्थर आदि नाना द्रव्य समुदाय से मकान बनता है अथवा पहिये आदि अनेक पुरजों के संयोग से रथ तैयार होता है उसी तरह हम लोगों का कथन है कि माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, व रस इनके समुदाय से गर्भ बनता है और सत्व, संबंध विधायक है।

पहिले यह कहा गया है कि सत्व, स्पर्शनेंद्रिय के द्वारा जीव और शरीर इनके बीच में संबंध प्रस्थापित करता है अतः दुबारा यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि गर्भोत्पादक भावों का संधान किस तरह होता है। अतः अब यह देखना आवश्यक है कि समुदायप्रभव गर्भ, मनुष्याकर कैसे बनता है और मनुष्य, मनुष्य को क्यों पैदा करता है।

प्राणियों की चार प्रकार की योनि है; जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज। इनमेंसे प्रत्येक योनि के असंख्य

प्रकार हैं। क्योंकि उनमें पैदा होने वाले प्राणियों की रचना असंख्य प्रकार की है। तहां जरायुज और अंडज प्राणियों को पैदा करने के समय उक्त गर्भोत्पादक भाव, रचना विशेष के अनुसार भिन्न २ योनिओं में भिन्न-भिन्न रूप-धारण करते हैं। जिस तरह सोना, चांदी, तांबा आदि धातुओं का तप्तरस भिन्न-भिन्न आकार के मोम के सांचे में ढालने पर भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है; यदि उसे मनुष्याकृति सांचे में ढाला जाय तो वह मनुष्याकृति बनता है उसी तरह गर्भ, समुदायात्मक होते हुए भी मनुष्य योनि में मनुष्य रूप धारण करता है। यही कारण है कि मनुष्य, मनुष्य से पैदा होता है। इस पर यदि यह कहो कि अंधे से अंधे की और मूर्ख से मूर्ख की पैदाइष क्यों नहीं होती ? तो इसका उत्तर यह है कि बीज व फल में अंगों के जो सूक्ष्म भाग रहते हैं उनमें से एक या अनेक भाग जब विकृत होते हैं, तब गर्भ के भी वे अंग विकृत पैदा होते हैं, अन्यथा नहीं होते। फलतः पितृ सदृश पैदा होना और न होना दोनों बातें सम्भवनीय हैं। प्राणीमात्र के इन्द्रिय, आत्मा से (आत्म-निबद्ध कर्म से) पैदा होते हैं। उनका होना या न होना दैवाधीन है। अतः जड आदि से पितृसदृश ही सन्तान पैदा हो यह नियम नहीं है।

यह कहना भी उचित नहीं है कि इंद्रियों के रहते आत्मा, ज्ञाता है और इन्द्रियों के बिना अज्ञ। क्योंकि आत्मा, कभी

भी सत्व रहित नहीं रहता बल्कि सत्व जिस प्रकार का हो उस प्रकार का उसे ज्ञान रहता है।

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि 'कर्ता का कार्य-विषयक ज्ञान, इन्द्रियाभाव के कारण प्रवृत्त नहीं होता। क्यों-कि जो क्रिया जिन इन्द्रियों के द्वारा होती है वह उन इंद्रियों के विना नहीं हो सकती। कुंभकार, घट बनाना जानता है पर उसका यह कार्य ज्ञान, मिट्टी के अभाव के कारण घट नहीं बना सकता'।

भारद्वाज, अब आप इस 'अध्यात्म' को सुनो। क्योंकि आत्म-विषयक ज्ञान का बल बहुत बडा है। इन्द्रियों को उनके विषयों से परावृत्त करके और चंचल मन को भी उस के विषयों से विमुख करके आत्मविद् पुरुष अध्यात्म में प्रविष्ट होता है अर्थात् अपने ज्ञान में ही स्थिर हो जाता है तब वह सर्वत्र 'अंकुठित ज्ञान' होकर बिना इन्द्रियों के ही समस्त भावों को जानता है। इसके अतिरिक्त भारद्वाज, इस निर्णय को भी सुनलो कि 'ज्ञानेन्द्रिय और वाणी के व्यापारों से निवृत्त होकर मनुष्य जब सोता है तब उसे स्वप्न में भी सुख दुःखादि विषयों का अनुभव होता ही है; अर्थात् यह ज्ञान, इन्द्रियों के बिना होता है और इस पर से भी यह जाना जा सकता है कि आत्मा 'अज्ञ' नहीं है। आत्मनिष्ट उक्त ज्ञान (ज्ञातृत्व) के बिना अकेला इन्द्रियजन्यज्ञान

जरा भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। और यह तो सिद्धान्त ही है कि कोई भी भाव, (षड्धातुवादानुसार इन्द्रियजन्यज्ञान और इन्द्रिय अथवा सत्व और गुण पंचक) अकेला नहीं रह सकता और अहेतुक भी नहीं रहता। तस्मात् आत्मा, ज्ञाता भी है, प्रकृति भी है, द्रष्टा भी है और कारण भी है। भारद्वाज, यह सब तय हो चुका है अब संदेह को छोड दो।

यह वक्तव्य अनेक दृष्टि से मननीय है। इसमें आत्मा व सत्व पर अत्यधिक विचार किया गया है। पुनर्वसु आत्रेय को विश्वास था कि अनात्मवादी, विशेषतः भारद्वाज, आत्मा का स्वतःसिद्ध अस्तित्व और सत्व का औपपादुकत्व स्वीकार कर लें तो विवाद का एक बहुत बडा अंश हल हो जायगा। यज्जः पुरुषीय परिषद् में उन्होंने अध्यात्म चिन्तन का उपदेश इसी हेतु से किया।

पुनर्वसु आत्रेय का अध्यात्म चिंतन विषयक उपदेश जितना अर्थ पूर्ण है उतना ही अर्थ पूर्ण पक्षरागत्याग विषयक उपदेश भी है। यह तो स्पष्ट ही है कि यज्जः पुरुषीय परिषद् में आत्मा, सत्व, और शरीर इस त्रयी में, से एक २ के नितान्त समर्थक सम्प्रदाय भी उपस्थित थे। इसके अतिरिक्त उनमें आत्मा के ज्ञातृत्व व कर्तृत्व के विषय में, लोकपक्ष के विषय में और गुणों के विषय में भी दल बन्दियाँ थीं। इन सब दल बंदियों का अन्त करने के हेतु से पुनर्वसु आत्रेय

ने अपना त्रिभागात्मक सृष्टि विज्ञान अलग ही प्रस्थापित किया था। और उसी को स्वीकार करने के हेतु से उन्होंने पक्षराग-त्याग का उपदेश भी किया। अतः अब उस पर विचार करें।

त्रिभागात्मक सिद्धांत

पुनर्वसु आत्रेय के त्रिभागात्मक सिद्धान्त का स्वरूप निम्न लिखित है। जैसा कि:—

सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदंडवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमान् चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः॥ (च.सू.अ.१)

अर्थात् सत्व, आत्मा व शरीर ये तीनों तिपाही के सदृश हैं। इनके संयोग पर सचेतन सृष्टि स्थित है और इसी संयोग पर सब कुछ (अचेतन सृष्टि) अवलंबित है। इस संयोग को ही 'पुरुष,' (समुदायात्मक) 'चेतन' (सचेतन द्रव्य) और 'अधिकरण' (आयु) कहते हैं। इसको जानने (व सुरक्षित रखने) के लिये ही यह 'आयुर्वेद' प्रकाशित हुआ है।

इस सिद्धांत का बाह्य स्वरूप यद्यपि त्रिभागात्मक है तथापि इसके तात्विक स्वरूप में एक मात्र आत्मा ही मूल-

भूत एवं स्वतःसिद्ध पदार्थ है। यह अपनी त्रिपाद् अमृतत्व अर्थात 'पर' अवस्था में निर्विकार है और एकांश प्रजापति अवस्था में इससे सत्व तथा शरीर संज्ञक 'भावों' का उद्भव होता है। तात्विक भाषा में सत्व और शरीर शब्द क्रमशः ज्ञान व कर्म के वाचक हैं। ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों ही आत्मनिष्ठ भिन्न २ 'वृत्तियाँ' (इनको 'चित्तवृत्ति' और 'प्राणवृत्ति' भी कहते हैं) हैं। आत्मा, ज्ञाता व कर्ता होने के कारण सृष्टयुत्पात्ति के समय उक्त वृत्तियाँ ही सत्व और शरीर में परिणत होती हैं।

तहां ज्ञातृत्व, सर्व प्रथम तीन प्रकारों में परिणत होता है। उन प्रकारों को शुद्ध, रजस् और तमस् कहते हैं। "तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्" (च. शा. अ. ४) अर्थात विशुद्ध व कल्याणांशयुक्त ज्ञान को शुद्ध, किंचित् अशुद्ध व रोषयुक्त ज्ञान को राजस् और अशुद्ध मोहांशयुक्त ज्ञान को तामस् कहते हैं।

कर्तृत्व, सर्व प्रथम त्रिधातुओं में परिणत होता है। यद्यपि षड्धातुवादानुसार चेतनाधातु का कर्तृत्व, भूतगुणों में अर्थात अप्रतीघातकत्व, चलत्व, उष्णत्व, द्रवत्व आर खरत्व में परिणत होता है तथापि इस विषय में पुनर्वसु आत्रेय, प्रजापतिवाद के ही अनुयायी मालूम होते हैं। और यह भी

ज्ञात होता है कि पुनर्वसु आत्रेय, इन भूतगुणों का ' त्रिवृत्-करण ' त्रिधातुओं में करते हैं।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस सिद्धांत में आत्मा को और सत्व तथा शरीर के अर्थात ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के उक्त प्रकारों (त्रिगुण व त्रिधातुओं) को ' प्राण ' शब्द से भी संबोधित किया जाता है। जैसा कि "अग्निर्वायुः सोमः, सत्वं रजस्तमः, (पंचेंद्रियाणि[1]) भूतात्मेति प्राणाः"। (सु. शा. अ. ४) इस में कहा गया है। शरीर के प्रत्येक मर्म में ये प्राण ही (सोममारुततेजांसि, रजस्सत्वतमांसि च। मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥ सु. शा. अ. ६) रहते हैं। इनका अन्यत्र ' प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः, ' ' प्राणांश्चाप्यवलंबते ' इत्यादि स्थलों में उल्लेख है। और यह भी कहा गया है कि इन प्राणों के संयोग को ही अनुबंध और आयु कहते हैं। जैसा कि ' अनुबंधस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं प्राणैः सह संयोगः '। (च. सू. अ. ११) तात्पर्य पुनर्वसु आत्रेय के त्रिभागात्मक सिद्धांत में आत्मा, सत्व और शरीर शब्दों से उक्त प्राण ही अभिप्रेत हैं। तहां सत्व शब्द से त्रिगुण और शरीर शब्द से त्रिधातु।

त्रिभागात्मक सिद्धांत के अनुसार आत्मनिष्ठ ज्ञान की व कर्म की वृत्तियाँ, भिन्न २ होने के कारण इनमें अथवा

१ इंद्रियों का उल्लेख केवल महत्व सूचक है।

त्रिगुण और त्रिधातुओं में जन्यजनक संबंध नहीं माना जाता। अनात्मवादी, ज्ञान अथवा सत्व को धातुपंचक का अथवा त्रिधातुओं का परिणाम कहते थे। इसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। पर आश्चर्य इस बात का है कि आत्मवादियों में भी एक संप्रदाय ऐसा था जो कि त्रिधातुओं से मन की उत्पत्ति मानता था। जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के "अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुज्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः"। (श्वे. उ. अ. २ मं. ६) इस मंत्र पर से सिद्ध होता है। अर्थात यह संप्रदाय ज्ञान की वृत्तियों को जन्य और कर्म की वृत्तियों को जनक मानता था। ठीक इसके विपरीत अर्थात कर्म को जन्य और ज्ञान को जनक मानने वाले संप्रदाय भी थे। इनके मत से कर्तृत्व, चेतना से भिन्न नहीं था। अतः ये सृष्ट्युत्पत्ति का आरंभ ज्ञान से अर्थात त्रिगुणात्मिका बुद्धि से करते थे और त्रिगुणात्मक अहंकार से आकाशादिकों की उत्पत्ति का विधान करते थे[1]। किंतु पुनर्वसु आत्रेय को षड्धातुवाद का और प्रजापतिवाद का ही मत मान्य था। अतः वे त्रिगुण व त्रिधातुओं में जन्य-जनक संबंध स्वीकार नहीं करते थे।

---

१ इन संप्रदायों ने अथवा उनके उत्तराधिकारियों ने वायु को रजोबहुल, पित्त को सत्वगुणोत्तर और श्लेष्मा को तमोगुणमय कहने की प्रथा शुरू की जो अबतक भी विद्यमान है। किंतु पुनर्वसु आत्रेय को यह सम्मत नहीं था।

प्रायः इसी हेतु से उन्होंने एक तरफ सत्व को केवल औपपादुक[1] सिद्ध किया तो दूसरी तरफ (वातकलाकलीय-परिषद् में) त्रिधातुओंका जगदुत्पादकत्व स्वीकार करते हुए उनके सत्वजनकत्व का ' सर्व एव भवंतः सम्यगाहु-रन्यत्रैकांतिकवचनात् ' इस तरह निषेध भी किया। सत्व और शरीर का पृथक् २ उल्लेख करना और धातुप्रकृति व महाप्रकृति के भिन्न २ उत्पादक कारणों का विवेचन करना भी यही अर्थ रखता है कि पुनर्वसु आत्रेय, सत्व और शरीर में जन्य जनक संबंध स्वीकार नहीं करते थे।

त्रिभागात्मक सिद्धांतानुसार त्रिगुण व त्रिधातुओं में यद्यपि जन्यजनक संबंध स्वीकार नहीं किया जाता तथापि उनमें ' अन्योऽन्यानुविधायित्व ' स्वीकार किया ही जाता है। क्योंकि त्रिगुणों के असंख्य प्रकारों पर विचार करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि " तेषां तु त्रयाणामपि सत्वानाम् एकैकस्य च भेदाग्रमपरिसंख्येयम् तरतमयोगात्, शरीरयोनिविशेषेभ्यश्च, अन्योऽन्यानुविधानत्वाच्च शरीरमपि सत्वमनुविधीयते सत्वं च शरीरम् "। (च. शा. अ. ४) शरीर, सत्व का अनुविधान करता है और सत्व, भी शरीर का अनुविधान करता है। सत्व और शरीर के

---

१ सत्व को संबंध विधायक कहना पर्याय से त्रिगुणों का शब्द-स्पर्शादि तन्मात्राओं के द्वारा महाभूतजनकत्व अस्वीकार करना ही है।

इस 'अन्योऽन्यानुविधायित्व (सायको फिजिकल् प्यारेल-लिज्म Psycho Phisical Parallelism के कारण भिन्न २ योनि विशेष, अवयव रचना अथवा इंद्रिय रचना विशेष तथा वय विशेष के अनुसार सत्व के प्रकारों में भी अनेक विशेष पैदा होते हैं। सिवाय शुद्धबहुल, शुद्धबहुलतर और शुद्धबहुलतम इस तरह तरतम भाव से भी सत्व के असंख्य प्रकार होते हैं। इसी तरह सत्व के अनुविधान से शरीर में भी विशेषताएँ पैदा होती हैं। इसी संबंध को लेकर यह भी कहा गया है कि 'निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्वि-शेषः सत्वशरीरयोस्तु विशेषात् विशेषोपलब्धिः'। (च. शा. अ. ४) अर्थात प्राणियों म जो विभिन्नता प्रतीत होती है वह सत्व और शरीर की विविधताओं तथा अन्योऽन्यानु-विधान के कारण होती है। किंतु आत्मा, अपने पर स्वरूप के कारण निर्विकार और एकसाँ रहता है। षड्धातुवादियों ने यह भी कहा है कि निर्विकार और पर आत्मा, नित्य होकर चैतन्य में कारण है और वह सत्वगुण, भूतगुण तथा इंद्रियों के द्वारा सब व्यापारों को देखता है अर्थात द्रष्टा है। (च. सू. अ. १) त्रिभागात्मक सिद्धांत के उक्त संबंध को निम्न लिखित सारिणी पर से भी जाना जा सकता है। जैसा कि:—
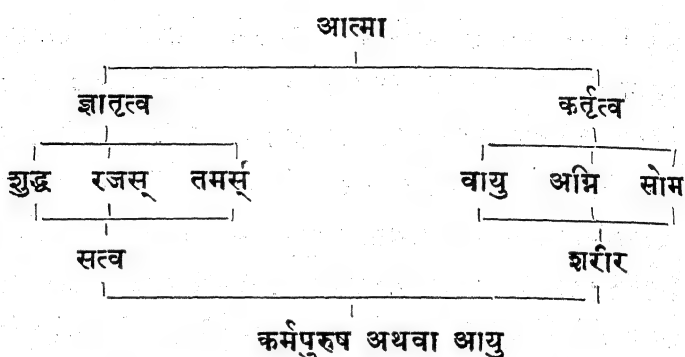
पुनर्वसु आत्रेय ने जिन भावों की सम्पद् विपद् को पुरुषरोगोत्पादक कहा है वे उनकी तात्विक भाषा में त्रिगुण और त्रिधातु ही हैं। इनके अन्योऽन्यानुविधान से पांचभौतिक द्रव्यों की, उनसे सूर्यादि लोकों की, उनसे ऋतुओं की, ऋतुओं स रस की, रस से ओषधि व अन्न (गुणप्रसादाख्य सचेतन प्रसादधातु) की, अन्न से रेत (द्रव्यप्रसादाख्यधातु) की और रेत से पुरुष की क्रमशः उत्पत्ति होती है।

इसके बाद काशीपति वामक ने यह सवाल किया कि 'भगवन्, सपन्निमित्तज पुरुष की और विपन्निमित्तज रोगों की 'अभिवृद्धि' में क्या कारण है?' तब पुनर्वसु आत्रेय ने यह उत्तर दिया कि 'हितकारक आहार का सेवन ही पुरुष की अभिवृद्धि में और अहितकारक आहार का सेवन ही रोगों की अभिवृद्धि में कारण है। और आहार की सम्पदा विपदा अथवा हिताहितत्व मुख्यतः आहारगत रसों व गुणों

पर अवलंबित है'। यह प्रश्नोत्तर 'तंत्रभाषा' में हुआ है क्योंकि आयुर्वेद, केवल 'मंत्र' अर्थात् विचार करने के लिये ही प्रस्तुत नहीं हुआ बल्कि 'तंत्र' अर्थात् कुछ करने क लिये प्रवृत्त हुआ है। इसके द्वारा आयु को जाना भी जाता है आर आयु की रक्षा भी की जाती है। रक्षाविधान में अर्थात् तंत्र में सन्निकृष्ट कारण ही अधिक महत्व पूर्ण होता है। पुरुषोत्पत्ति में अन्न, संन्निकृष्ट भी है। सारांश तंत्र दृष्टया आहार को अभिवर्धक कहना उचित है। प्रसंगानुसार माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, रस, सत्व, इनके समुदाय को भी पुरुषोत्पादक कहा ही गया है किन्तु त्रिभागात्मक सिद्धांत की दृष्टि से इनकी सबकी तह में आत्मा, त्रिगुण और त्रिधातु ही विद्यमान हैं।

सुश्रुत संहिता के गर्भावक्रांति प्रकरण में प्राणों का उल्लेख किया जाना यह सूचित करता है कि धान्वंतर संप्रदायी

---

१ द्रव्य प्रधानतावादी, आहार को 'रसगुणाश्रयीभूत द्रव्य' कहते थे और धर्म्मप्रधानतावादी, आहारद्रव्य को तद्गुणमूलक मानते थे। (देखो पृष्ठ ४५ व ४६) पुनर्वसु आत्रेय का कथन था कि यद्यपि मंत्र दृष्ट्या द्रव्यगत गुण, द्रव्य के मूलघटक और उत्पादक हैं तथापि तंत्र में तंत्र की भाषा का व्यवहार करना ही उचित है। धातु पोषण का विषय तंत्र से घानिष्ट संबंध रखता है और तंत्र में आहार द्रव्य को अथवा द्रव्यमात्र को प्रधान तथा रसगुणाश्रय माना जाता है।

महर्षि सुश्रुत भी त्रिभागात्मक सिद्धांत को स्वीकार करते थे। और वे इन प्राणों को ही वंशांकुर (सु. शा. अ. ३) की प्रकृति मानते थे। तदनुसार 'आत्मप्रकृति विकार संमूर्च्छितं गर्भं इत्युच्यते'। (सु. शा. अ. ५) इसका अर्थ इस तरह करना ही उचित है कि 'वंशांकुर में समस्त अंग-प्रत्यंगों को पैदा करनेवाले जितने भी बीज-रूप सचेतन अचेतन सूक्ष्म द्रव्य रहते हैं वे सब उक्त 'प्राण' संज्ञक प्रकृति के ही विकार हैं। (अर्थात यहां प्रकृति शब्द सांख्यों के अथवा आत्मवादियों के प्रकृति का वाचक नहीं है) वंशांकुर अपनी प्राण संज्ञक प्रकृति के विकारों से मूर्च्छित होकर क्रमशः वंशांकुरगुच्छ, Morula कलल, Blastula संतानिका, Blastus कला, Mambrans धातु, Tissues स्रोत आदि अवस्थाओं में परिणत होता हुआ 'गर्भ' संज्ञा को प्राप्त होता है'। धान्वंतर आगे यह भी कहते हैं कि गर्भ, जब हस्तपादादि स्थूल अंगोपांगों से सम्पन्न होता है तब उसे 'शरीर' कहते हैं। शरीर के प्रत्येक मर्म में इन प्राणों का विशेष रूप से वास्तव्य रहता है। फलतः मर्मों मे आघात या रोग होने पर वेदनातिशय अथवा मरण हो जाता है। सारांश धान्वंतरों क मत से भी त्रिभागात्मक सिद्धान्तानुसार प्राणों का अथवा आत्मा, सत्व और शरीर का संयोग ही पुरुष और आयु है।

हमारी सम्मति में भी त्रिभागात्मक सिद्धान्त ही आयुर्वेद का निर्णीत सृष्टि विज्ञान है और इसमें पुनर्वसु आत्रेय ने प्रजापतिवाद और षड्धातुवाद दोनों का समुचित समन्वय किया है।

परिशिष्ट

इस परिशिष्ट में वातपित्तश्लेष्माओं के तथा सत्व के प्रकारों पर विचार करना है।

आयुर्वेद का तंत्र, (निदान व चिकित्सा) आरम्भ से ही वात-पित्तश्लेष्माओं के आधार पर प्रतिष्ठित है। किन्तु जैसे २ इनकी व्यापकता का और इनके भिन्न २ कार्यों का ज्ञान बढ़ता गया वैसे २ इनके प्रकारों की भी कल्पना होने लगी। कालानुक्रम के अनुसार देखा जाय तो प्रथम वायु के प्रकारों का आविष्कार हुआ और बाद में पित्तश्लेष्माओं के प्रकारों का। चरक संहिता में सिर्फ पित्तश्लेष्माओं के भिन्न २ कार्यों का उल्लेख है किन्तु सुश्रुत संहिता में उन कार्यों के आधार पर नामतः भिन्न २ प्रकारों का विवेचन किया गया है। इन प्रकारों की सृष्टि जिस समय में हुई उसके पहिले ही हेतुस्कन्ध और औषधि-गुण-धर्म-विवेचन पास २ में निबद्ध हो चुका था। इस का परिणाम यह हुआ कि निदान में और औषधि-गुण-धर्म्म-विवेचन में इन प्रकारों का सन्तोषजनक उल्लेख न हो सका। यदि भविष्य में इस त्रुटि को पूर्ण करना है तो उस पर अधिक विचार करना भी आवश्यक है।

आयुर्वेद दृष्टया शरीर, वातपित्तश्लेष्माओं का बना हुआ है। शरीर में जितने पदार्थ हैं उनमें कुछ वातसंज्ञक, कुछ पित्तसंज्ञक और कुछ श्लेष्मसंज्ञक हैं। अर्थात् शरीरगत पदार्थों के संक्षेप में तीन प्रधान वर्ग हैं और उनको वात, पित्त और श्लेष्मा कहा जाता है। आगे इन प्रधान वर्गों का ही कर्म विशेष के आधार पर पांच २

प्रकारों में वर्गीकरण किया गया और उनका नाम भी तत्तत्कर्म-बोधक ही रक्खा गया। जैसा कि:—

वायु के:—प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान.
पित्त के:—पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक.
श्लेष्मा के:—क्लेदक, अवलंबक, बोधक, तर्पक और श्लेषक.

वास्तव में देखा जाय तो ये प्रकार भी वर्ग ही हैं। अस्तु, अब इन पर अलग २ विचार करें।

वायु के प्रकार

पहिले यह कहा गया है कि कुछ सम्प्रदाय 'वायु द्रव्य' को प्रधान मानते थे तो कुछ 'वायु धर्म्म' को। तदनुसार दोनों ही संप्रदाय अपने २ वायु को प्राणादि प्रकारों में विभाजित करते थे। फलतः आयुर्वेद में दोनों प्रकार का विभक्तीकरण उपलब्ध होता है। यह बात वैदिक वाङ्मय में भी दृग्गोचर होती है। वेदों में प्राण, अपान व उदानसंज्ञक प्रकार वायु द्रव्य और वायु धर्म्म दोनों के उपलब्ध होते हैं। अतः इनका पृथक २ विवेचन करना ही उचित है।

वायु द्रव्य के प्रकार:—सुश्रुत संहिता में वायु द्रव्य का दो जगह विवेचन है। जैसा कि:—

प्रस्पंदनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पंचधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति। (सु. सू. अ० १५)

इसमें वायु के पांच प्रधान लक्षणों का उल्लेख करके यह सूचित किया है कि वायु, इन लक्षणों के अनुसार पांच प्रकारों में विभाजित

होकर शरीर को धारण करता है। इस कथन के अनुसार प्राण का प्रस्पंदन, उदान का उद्वहन, व्यान का पूरण, समान का विवेक और अपान का धारण मुख्य लक्षण है।

अब प्राणादिकों का अलग २ विवेचन करते हैं। जैसा कि:—

वायुर्यो वक्त्र संचारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यंतः प्राणांश्चाप्यवलंबते ॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्।

अर्थात् जो वायु नाक व मुख से शरीर में प्रविष्ट होता है उस को प्राण कहते हैं। यह देह को धारण करता है, अन्न को भीतर प्रविष्ट करता है और प्राणों का अवलंबन करता है। दूषित होने पर यह हिक्काश्वास आदि रोगों को पैदा करता है।

बाहर की हवा नाक व मुख के द्वारा मुख्यतः प्राणवहस्रोतों (श्वास मार्ग, Trachae अपस्तंभ, Bronchi लघ्वपस्तंभ, Bronchioli वातवह स्रोत, Air Passages वायु कोष, Air Sacs और फुफ्फुसीया धमनी Pulmonary Artery) में प्रविष्ट होता है। इस हवा में प्राण द्रव्य रहता है। यह प्राणद्रव्य, रक्त के द्वारा प्रथम हृदय में और वहां से समस्त शरीर में संचार करता है। यह शारीर धातुओं का पोषक ही नहीं बल्कि जीवन की मुख्य वस्तु होने के कारण इसको देहधारक कहना यथार्थ ही है। अन्न को निगलने के समय बाहर की हवा को अन्नमार्ग में लेने की आवश्यकता रहती है। इनका कथन है कि हृदयस्थ प्राणों का अवलंबन यह प्राणद्रव्य ही करता है।

इस प्राणद्रव्य का प्रधान स्थान श्वासमार्ग से हृदय तक है। अतः इसका प्रधान कार्य 'प्रस्पंदन' (फुफुस व हृदय दोनों का निमेषोन्मेष) माना गया है और तदनुसार इसकी विकृति में हिक्का-श्वास आदि रोगों का सम्भव बतलाया है।

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ॥
तेन भाषितगीतादि विशेषोऽभिप्रवर्तते ।
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥

अर्थात् जो उत्तम पवन, ऊपर के द्वारों से बाहर निकलता है उसको उदान कहते हैं। इससे भाषा, संगीत आदि पैदा होते हैं। इसकी विकृति से विशेषतः ऊर्ध्वजत्रुगत रोग होते हैं।

इसका प्रधान कार्य 'उद्वहन' है। तदनुसार उच्छ्वसन भी इसका एक कार्य होगा। किन्तु यहां मुख्यतः भाषा संगीत का उल्लेख किया है। इस विषय में औपनिषदिक ऋषियों का कथन है कि 'प्राण एव उत्प्राणेन उत्तिष्ठति वाग्गीः' (छां. ब्रा. ३-३) प्राण ही जब उत्प्राण के साथ ऊपर उठता है तब वाणी और संगीत की प्रवृत्ति होती है। इस पर से यह ज्ञात होता है कि इनको उद्वहन में प्राण व उत्प्राण संज्ञक दो द्रव्यों के अस्तित्व का ज्ञान था। किन्तु वे मुख्यतः उद्गत प्राण को ही वाक्प्रवर्तक मानते थे।

आममक्काशयचरः समानो वन्हिसंगतः ।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विकारान् विविनक्ति हि ॥
गुल्माग्निसंगातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान् ।

अर्थात् आमाशय व पक्काशय में संचार करने वाले (प्राण) वायु को समान कहते हैं। यह अग्नि मंडलों (पित्तोत्पादक पिंडों) में पित्तों को पैदा करके अन्न का पाचन करता है और अन्नरसगत सार व किट्टों को अलग २ करता है। इसकी विकृति से गुल्म, अग्निमांद्य, अतिसार आदि रोग पैदा होते हैं। विवेक, इसका प्रधान कार्य है। अन्न के रासायनिक पृथक्करण को विवेक कहते हैं।

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः॥
स्वेदासृक्स्रावणो वापि पंचधा चेष्टयत्यपि।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्॥

अर्थात् समस्त शरीर में संचार करने वाले (प्राण) वायु को व्यान कहते हैं। वाहिनीयों में यह रस का संवहन करता है। 'पूरण' इसका प्रधान कार्य है। इस पूरण व्यापार (सम्भवतः दवाब) के कारण ही समस्त शरीर में रस संवहन होता है। सरल भाषा में वाहिनीयों को रस से भरा पूरा रखना इसका कार्य है। सामान्यतः स्रोतों के द्वारा स्वेदों (अन्यान्य तरलों) को स्रुत करना और विकृत अवस्था में वाहिनीयों को विशीर्ण करके रक्तस्रुति करना भी इसका कार्य है। और यह ही मांसस्नायुओं में तथा धातुप्रसाद में रहकर आकुंचन प्रसरणादि अथवा ग्रहणविसर्जनादि चेष्टाएँ करता है। किन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि केवल 'पूरण' का उल्लेख करने वाले, 'चेष्टा' का उल्लेख नहीं करते। जब यह कुपित होता है तब सार्वदैहिक व्याधियों को पैदा करता है।

इस कथन के अनुसार व्यान के तीन प्रकार होते हैं; वा हिनीगत रस संवहन कर्ता, स्रोतोगत स्वेदस्रुति कर्ता और धातुप्रसाद व स्नायु गत

चेष्टाकर्ता । इस तरह यहां व्यान शब्द वर्ग बोधक ही है।

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् ॥
समीरणः शकृन्मूत्रगर्भशुक्रार्तवान्यधः ।
क्रुद्धस्तु कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान् ॥
(सु. नि. अ० १)

यहां पक्वाधान शब्द से महास्रोत का उंडुक से अधरगुद तक का भाग, मूत्र संस्था, शुक्रार्तवोत्पादक यंत्र और गर्भाशय इनको सबको ग्रहण करना चाहिये । अत्रत्य वायु (प्राण और कटुप्रपाकजन्य) को अपान कहते हैं। यह पुरीष, मूत्र, शुक्र, आर्तव और गर्भ को धारण करता है और यथा समय इनको बाहर भी निकालता है। कुपित अवस्था में यह बस्तिगुदाश्रित रोगों को पैदा करता है।

अपान शब्द भी यहां वर्ग बोधक है। तदनुसार भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ पदार्थों को धारण करने की व उनको बाहर निकालने की उसकी पद्धति भी भिन्न २ है ;

वायु धर्म के प्रकारः—इन पर विचार करने के पहिले धातुप्रसाद जन्य स्पर्शनेंद्रिय की रचना को जानना आवश्यक है। किंतु उपलब्ध आयुर्वेदिक संहिताओं में इसकी रचना का विवेचन नहीं के बराबर है।

अन्य आर्ष ग्रंथों में इसकी स्थूल रचना का कुछ विवेचन उपलब्ध होता[1] है। उसमें मस्तिष्कगत 'सहस्रदलकमल' (सुश्रत

---

1 ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषाऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमश्नुते ॥ (कठ २।६।१) ' शतंचैका हृदयस्य नाड्यस्तासां

इसका 'अधिपति' कहते हैं) 'हृदय कमल', 'कुल कुंडलिनी', (सुषुम्णामध्यस्थ धूसरभाग) 'हिरण्यआप्,' (तर्पककफ)

मूर्द्धानमभिनःसृतैका'। (कठ २।६।१६) 'हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतंशतमेकैकस्यां द्वासप्तति द्वांसप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति'। (प्रश्न ३।६) 'देवानां निहितं निधिं (धातुप्रसाद) यमिंद्रोन्वविंदत् पथिभिर्देवयानैः। आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भि (वातपित्त-श्लेष्माभिः) स्तास्त्वा रक्षतु त्रिवृता त्रिवृद्भिः' (श्लेष्मस्नाय्वपराभिः)। (अथर्व. १९।२७।९) 'मध्यस्थ कुंडलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवंति। इडा, पिंगला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिव्हा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहूः, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुषा, गांधारीति नाड्यश्चतुर्दश भवंति। तत्र सुषुम्णा, विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। गुदस्य पृष्ठभागे वीणादंडाश्रिता मूर्द्धपर्यन्तं ब्रह्मरंध्रे विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति। सुषुम्णायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति, दक्षिण भागे पिंगला ।...सुषुम्णापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः। यशस्विनी कुहू मध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति। पूषासरस्वती मध्ये पयस्विनी भवति। गांधारीसरस्वता मध्ये यशस्विनी भवति। कंद मध्येऽलंबुषा भवति। सुषुम्णापूर्वभागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति। कुण्डलिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति। यशस्विनी सौम्या च पादांगुष्ठान्त मिष्यते। पिंगला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति। पिंगलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति। याम्यकर्णान्तं यशस्विनी भवति। जिव्हाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति। आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शंखिनी भवति। इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गांधारी भवति। पायुमूलादधोर्ध्वगाऽलंबुषा भवति। एतासु चतुर्दशासु नाडीष्वन्या नाड्यः संभवंति। तास्वन्यास्तास्वन्या भवंतीति विज्ञेयाः। यथ ऽश्वत्थादिपत्रं शिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम्। प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरंति। आस्यनासिका कंठनाभिपादांगुष्ठद्वम

कुलकुंडलिनी से लगी हुई इडा, पिंगला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिव्हा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुषा व गांधारी नाम की नाडियाँ और इन चौदह नाडियों से संबंधित सहस्त्रों शाखा प्रशाखा इनका उल्लेख है। (आयुर्वेदांतर्गत भिन्न २ संप्रदायों ने नाडियों को भिन्न २ शब्दों से संबोधित किया है.)

इसके अतिरिक्त छः चक्रों का उल्लेख किया जाता है। जैसा कि "गुद से दो अंगुल ऊपर कुंडलिनी में मूलाधार नामक स्थान है। वहां चार दल का 'आधारचक्र' है। इसके ऊपर किंतु नाभि के नीचे छः दल का 'स्वाधिष्ठानचक्र' है। नाभि और हृदय के बीच में दस दल का 'मणिपूरकचक्र' है। इसके पास ही जीवात्मा

कुंडल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति। श्रोत्राक्षिकटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति। गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजंघानाभ्यग्न्यगारेष्वपानः संचरति। सर्वसंधिस्थ उदानः। पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानो भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन् द्विसप्तति सहस्त्रेषु नाडी मार्गेषु चरन् समानवायुरग्निना सह सांगोपांगं कलेवरं व्याप्नोति। (शांडिल्योपनिषद् १।४)

आधारस्तु चतुर्दलोऽरुणरुचि र्वासान्तवर्णाश्रयः।
स्वाधिष्ठानमनेक विद्युतकरा बालांतषट्पत्रकम्॥
रत्नाभं मणिपूरकं दशदलं डाद्यैःफकारान्तकम्।
पत्रैर्द्वादशभिस्त्वनाहतपुरं हैमं कठाणार्णितम्॥ १॥
मात्राभिर्दल षोडशस्वरयुतं ज्योतिर्विशुद्धांबुजम्।
हं क्षं द्व्यक्षरसंयुतं द्विदलकं रत्नोपमाज्ञापुरम्॥
तस्मादूर्ध्वमधोमुखं विकसितं पद्मं सहस्त्राक्षिदम्।
नित्यानंदमयं सदाशिवपदं नित्यं नमस्ते सदा॥२॥ (स्व. सि.)

का निवासस्थान 'हृदयकमल' है। हृदय और तालुमूल के बीच में बारह दल का 'अनाहतचक्र' है। तालुमूल व ललाट के बीच में सोलह दल का 'विशुद्धचक्र' है। ललाट व सीमन्त के बीच में 'आज्ञाचक्र' है। इसके ऊपर ब्रह्मरंध्र और ब्रह्मरंध्र के भी ऊपर शिव का निवासस्थान, अधोमुख सहस्रदल कमल है। ये सब बिस-तंतु मार्ग से निबद्ध हैं"। इत्यादि।

उक्त सब रचना धातुप्रसाद की बनी हुई है। प्रत्यक्ष में धातुप्रसाद के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं; धूसर व श्वेत। तहां धूसर धातुप्रसाद के बने हुए अवयवों को 'पद्म' अथवा 'कमल' कहते हैं। ये अनेक प्रकार के और असंख्य हैं। इनका शरीर में सर्वत्र अस्तित्व है। सहस्रदलकमल, हृत्कमल, कुंडिलिनी आदि भाग मुख्यतः इन पद्मों के संयोग से ही बनें हुए हैं। उक्त लघु पद्म, बिसतंतुओं से युक्त हैं। ये बिसतंतु, श्वेत धातुप्रसाद के बने हुए हैं और इनके ही समुदाय से नाडियां बनी हुई हैं। इन तंतुओं अथवा नाडियों के द्वारा समस्त पद्म एक दूसरे के साथ संबद्ध हैं और इस तरह इनका समस्त शरीर में जाल-सा बिछा हुआ है। इस संस्था का पाश्चात्य शारीरवेत्ताओं ने बहुत ही सूक्ष्मता से अन्वेषण किया है। अस्तु.

उक्त रचना में ही कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, अतींद्रिय और बुद्धींद्रिय होने के कारण यह इंद्रिय व्यापक स्पर्शनेंद्रिय, इनकी सबकी संगठित संस्था है। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय तो उक्त संस्था के द्वारा ही 'करणवृत्ति' और 'चित्तवृत्ति' संज्ञक व्यापार प्रस्तुत होते हैं। जो संप्रदाय इन वृत्तियों को वायु धर्म कहते हैं वे इन वृत्तियों का प्राणादि प्रकारों में भी विभाजन करते हैं।

वार्योविद् ने वायुधर्म्म का विवेचन करते हुए कहा है कि यह वायु, प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान इन प्रकारों में विभक्त है। किन्तु उन्होंने अपने विवेचन में इन प्रभेदों का अलग २ कार्य-निर्देश नहीं किया है। अतः उनके विषय में जो कुछ भी कहा जाय वह एक अनुमान ही होगा।

वार्योविद की दृष्टि में प्राणधर्म का प्रधान कार्य 'उत्साह' अथवा 'उद्योजन' [सर्वेंद्रियाणामुद्योजकः, हर्षोत्साहयोर्योनिः] है।

उद्योजन, Irritability धातु प्रसाद में और अन्यत्र भी रहता है। धातुप्रसाद के धूसर भाग में अर्थात् पद्मों में खासकर उद्योजन रहता है। इसके अतिरिक्त भी कुछ अवयव ऐसे हैं जिनमें स्वतंत्र रूप से उद्योजन शीलता रहती है। जैसा कि अणु अवयवगत उद्योजन, जिसके द्वारा वह अपने स्वाभाविक कार्य करता है; श्लेष्मगत बलोत्पादक उद्योजन; पीतस्नायु [Yellow fibres] गत और नेत्र-तृतीयपटलगत आयम्यता का उत्पादक उद्योजन; पक्ष्मापरा [Ciliated epithelium] गत पक्ष्म व्यापार (तृणजलौका गति) को पैदा करने वाला उद्योजन; रसशोषणक्षमता का उत्पादक रक्तस्थ श्वेतकण गत उद्योजन; अग्निमंडलगत पित्तोत्पादक उद्योजन और प्रस्पंदन प्रवर्तक हृन्मांसगत उद्योजन। वार्योविद की भाषा में उक्त सभी उद्योजनों का अंतःस्थ उद्योजक 'प्राणधर्म्म' ही है। यद्यपि सत्व के तथा बाह्य विषयों के कारण उद्योजनशील अवयव उत्तेजित होते हैं तथापि ये अन्य उद्योजक, प्राणधर्म्म के अभाव में उत्तेजना पैदा नहीं कर सकते। अतः प्राणधर्म्म को ही प्रधान उद्योजक कहना उचित है।

सामान्यतः समस्त उद्योजनशील अवयव, प्राणधर्म्म के निवास स्थान हैं। फिरभी हृत्कमल जैसे मध्यम कमल, कुंडलिनी, और ज्ञानेंद्रियगत धूसर धातुप्रसाद, में इसके उच्चतर स्थान तथा प्राणायतन Internal Capsule के आस पास और अधिपति के 'दलस्थली' Cortex में उच्चतम स्थान हैं।

प्राण के द्वारा सर्व प्रथम उद्योजन होता है और यह उद्योजन ही अनेक व्यापारों में परिणत होता है। धूसर धातुप्रसाद गत अर्थात् पद्मगत उक्त उद्योजन, तंतुओं में 'वेगों' का अथवा 'वृत्तियों' का रूप धारण करता है। ये वेग दो प्रकार के हैं; प्रवर्तक और अभिवाहक। प्रवर्तक वेगोंके कारण कर्मेन्द्रियों के द्वारा आकुंचनप्रसरणादि अथवा ग्रहणविसर्जनादि व्यापार होते हैं। और अभिवाहक वेगों के कारण ज्ञानेंद्रियों द्वारा शब्दस्पर्शादि विषयों का अभिवहन होता है। इसी हेतु से वार्योविद ने प्राणधर्म्म को अर्थाभिवाहक (इंद्रियार्थानामभि वोढा) और चेष्टाप्रवर्तक (प्रवर्तकश्चेष्टामुच्चावचानाम्) कहा है। उक्त दोनों प्रकार के वेग यद्यपि भिन्न २ नाडियों से प्रस्तुत होते हैं तथापि उनका समवायि कारण नाडियां नहीं है अथवा अमुक वेग अमुक नाडी से ही प्रस्तुत हो यह नहीं है।

प्राण के व सत्व के निवास स्थान प्रायः एक ही हैं और नाडियों में से प्राणवृत्तियों के साथ २ चित्तवृत्तियाँ भी संचार करती हैं। प्रायः इसी हेतु से वार्योविद् सत्व को प्राण का परिणाम कहते हैं और तदनुसार प्राण को सत्व का उत्पादक व नियामक (नियंता प्रणेता च मनसः) कहते हैं। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि सहस्रदल कमल के दलस्थली में विशेषतः उसके पुरोभाग में ऐसे पद्म हैं जिनमें

कि सत्व की वृत्तियाँ प्रधानता से रहती हैं। फिर भी वार्योविद्, प्राण को हर्ष (सत्ववृत्त्युपादक उद्योजन) की योनि (हर्षोत्साहयोनिः) मानते ही हैं।

प्राण, का यह विवेचन बहुत व्यापक है। प्राण के इस व्यापक क्षेत्र को संकुचित करके ही उदान आदि प्रभेदों की कल्पना की गई है। तदनुसार उदान के तीन कार्य हैं; (१) समस्त शारीर धातुओं का व्यूह करना, (२) अवयवों का सन्धान करना, और (३) वाणी को प्रवृत्त करना। (१) अग्नि को प्रज्वलित करना, (२) सारभाग का शोषण करना और (३) बर्हिमलों को अर्थात् किट्टको अलग करना ये तीन कार्य समान के बतलाये हैं। वार्योविद के वक्तव्य में व्यान के कार्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। गर्भावस्था में कललपाक के समय छोटे बडे स्रोतों को बनाना और गर्भ में आकृति पैदा करना अपान का कार्य है।

वार्योविद का यह प्राणादि विवेचन यज्ञःपुरुषीय परिषद् के समय का है।

इसके अतिरिक्त चरक संहिता के वातव्याधि चिकित्सा में भी प्राणादि प्रकारों का विवेचन उपलब्ध होता है। मालूम नहीं कि यह विवेचन किसने किया और कब किया। वह इस प्रकार है:—

> **स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः कर्णजिव्हाक्षिनासिकाः।**
> **ष्ठीवनक्षवथूद्गारः श्वासाहारादि कर्म च ॥**

इसमें समस्त अभिवाहक वेगों का और कुछ प्रवर्तक वेगों क प्राण के कार्य क्षेत्र में समावेश किया गया है। वाग्भट्ट ने भी अपने 'बुद्धिहृदयोंद्रियाचित्तधृक्' इस विधान में अभिवाहक वेगों का और

' ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासान्नप्रवेशकृत् ' इसमें प्रवर्तकवेगों का उल्लेख किया है। यहां यह देखना आवश्यक होजाता है कि उक्त ष्ठीवनादि कार्य जिन नाडियों के द्वारा प्रस्तुत होते हैं उनका किस चक्र से सम्बन्ध है। किन्तु यह अन्वेषण अभी विचाराधीन रखना ही उचित है।

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कंठ एव च।
वाक्प्रवृत्ति प्रयत्नौजो बल वर्णादि कर्म च ॥

इसमें यद्यपि नाभि और उरस् का उदान के स्थानों में उल्लेख है तथापि कंठ को ही मुख्य स्थान कहा गया है। कार्यों में वाणी और बल का उल्लेख है। ध्वनि पैदा होने के लिये यद्यपि अवकाश और हवा की आवश्यकता है तथापि स्वरवर्ण विशेष पैदा होने के लिये स्थान, प्रयत्न और वे प्रवर्तक वेग जिनके द्वारा कंठगता स्वरतंत्रियाँ तनतीं व शिथिल होतीं हैं; प्रधान कारण हैं। बल, ओज में रहता है; अतः ओज का भी उल्लेख है।

उपनिषदों में उदान के उद्गमन का दो जगह उल्लेख है। एक जीवात्मा के पुनर्भव के समय और दूसरा हृदयाकाश स्थित जीवात्मा को मूर्द्धा में शिव के समीप ले जाने के समय। वाग्भट्ट ने उदान को ' स्मृतिक्रिय ' भी कहा है।

स्वेददोषांबुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अंतरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ॥

यहां स्रोतस् शब्द ' पिंड ' वाचक है। पिंडों की आकृति साधारणतः स्रोतों के सदृश ही होती है। इसमें पित्तोत्पादक पिंडों को

अर्थात् अग्निमंडलों को 'स्वेदवहस्रोत;' क्लेदककफोत्पादक पिंडों को अर्थात् सोममंडलों को 'अंबुवहस्रोत' और अन्य कतिपय पिंडों को 'दोषवहस्रोत' कहा गया है। दोषवह स्रोतों में किनका समावेश करना यह विचारणीय है। फिरभी यह कहा जा सकता है कि उक्त स्वेदांबुवह स्रोतों के तथा उन पिंडों के जो कि अपान के क्षेत्र में हैं; अतिरिक्त ही दोषवहस्रोत हैं। इन दोषवह स्रोतों में 'अंतः स्रावी' पिंडों का भी समावेश किया जा सकता है। दोष शब्द आयुर्वेद में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण अंतःस्रावों को भी लगाया जा सकता है।

इन स्रोतों में विशेषतः तद्गत अणु अवयवों और 'अभिषूतों' में जो स्वेदांबुदोषोत्पादक धर्म्म है वह समान संज्ञक है। यह धर्म्म उनमें स्वतंत्रता से रहता है तथापि इसका वास्तव्य अंतरग्नि के बाजू में–स्थित धातुप्रसाद म भी रहता है जिससे कि अग्निमंडल गत अभिषूतों को पित्तोत्पादन करने की कमोबेशी शक्ति प्राप्त होती है।

इसमें समान के 'दोषशोषण' और 'विवेचन' के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं है। वाग्भट्ट के 'अन्नंगृण्हाति' का अर्थ 'रस शोषण' है।

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादि क्रियाः सदा॥

इसमें व्यान के स्थान व कार्यों का ऐसे शब्दों में वर्णन किया है जो कि रस संवहन और मांस स्नायवीय चेष्टा दोनों में चरितार्थ हो। रससंवहन का आरंभ हृदय के निमेषोन्मेषण से होता है अतः वाग्भट

ने इसको सर्वदेहचारी कहते हुए भी हृदय स्थित कहा है। हृदय के निमेषोन्मेषण के कारण रसका विक्षेप (व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा इ०) होता है और वह समस्त देह में शीघ्र गति से संचार करता है। उक्त निमेषोन्मेषण रूप व्यापार वाहिनियों में भी रहता है और उससे रस व रक्त का अभिसरण जहां जितना और जिस वेग में आवश्यक हो; होता है। निमेषोन्मेषण कारक यह व्यानधर्म्म हृन्मांसस्नायुओं में स्वतंत्र और अन्य स्नायुओं में धातुप्रसादाधीन रहता है।

मांस स्नायवीय आकुंचन, प्रसरण, आयम्यता, तन्यता आदि चेष्टाओं के प्रवर्तक नाडी वेगों को व्यान कहने की प्रवृत्ति इसमें पाई जाती है पर व्यान के इस क्षेत्र का निर्णय प्राणादि अन्य प्रकारों के क्षेत्रों को छोड कर ही करना होगा।

वृषणौ बस्ति मेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम्।
अपानः स्थानयंत्रस्थः शुक्रमूत्रशकृंति सः ॥
सृजत्यार्तवगर्भा च········(च. चि. अ. २८)

अर्थात् वृषण, बस्ति, शिश्न, नाभि, ऊरू, वंक्षण इन स्थानों में जो शुक्र, मूत्र, पुरीष, आर्तव व गर्भ इनके उत्पादक और वाहक यंत्र हैं उनमें अपान रहता है। अपान, शुक्रादिकों को पैदा भी करता है और बाहर भी निकलता है।

हमारी राय में उक्त प्राणादि प्रभेदों का पुनः संशोधन किया जाना आवश्यक है।

पित्त के प्रकार

पित्त के भी पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक नाम के पांच प्रकार किये जाते हैं। तहां पाचक का इतिहास अम्ल-प्रपाक से आरम्भ होता है। रंजक के विषय में यह विचारणीय है कि इसका ज्ञान सर्व प्रथम देहगत प्रकृति विकृति वर्णों पर से हुआ अथवा रसरंजन पर से। साधक के विषय में यह तर्क है कि आत्मा हृदय में जिस अन्न के सहारे रहता है उस अन्न को पित्त के प्रकारों में शामिल करने के हेतु से साधक कहा गया है। आलोचक का इतिहास भी कुछ ऐसा ही है पर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि आलोचक व भ्राजक का सम्बन्ध तेज संज्ञक वसा से है और यह संबंध, तेज का पित्त में अंतर्भाव होने के वाद प्रस्थापित हुआ होगा।

यह स्वीकार करने पर भी कि उक्त घटनाओं के कारण इन पित्तों का ज्ञान हुआ; आरम्भ में इनका 'नामतः' अलग २ उल्लेख नहीं किया जाता था। इसका एक कारण यह भी है कि कुछ संप्रदाय अग्नि व पित्त को भिन्न २ मानते थे तो कुछ पित्त में ही अग्नि का अन्तर्भाव करते थे और तदनुसार दोनों की भाषा भिन्न २ थी। और इस दृष्टि से 'अग्निरेव शरीरे' इत्यादि मारीचि का विधान (देखो पृ.८८) मननीय है। मालूम होता है कि इन विधानों के समय तक पित्त का पंचधा और नामतः विभक्तीकरण नहीं किया जाता था। पंचधा विभक्तीकरण का आरंभ 'रागपक्त्योजस्तेजो मेधोष्मकृत् पित्तं पंचधा प्रविभक्तमग्निकर्मणानुग्रहं करोति' (सु. सू. अ० १५) इस विधान से होता हुआ दिखाई देता है।

पाचक पित्तः—षड्रसवादियों के समय में आमशय को केवल श्लेष्मा का स्थान और पित्त व अग्नि को भिन्न २ माना जाता था।

अतः वे कहते थे कि ' आमाशय में अन्न का जो पाक वा विदाह होता है वह आमाशय के अधोभाग में स्थित अग्नि के उष्मा से होता है; जैसा कि चूल्हे की आंच से बटलोही में चांवल पकते हैं। पाक की पहिली अवस्था में अन्न, मधुर व फेन युक्त होता है और उससे श्लेष्मा पैदा होता है। पाक की दूसरी अवस्था में अन्न, विदग्ध और अम्लकल्प बनाता है। (चूंकि जब कि इनकी दृष्टि से अम्लता का कारण ' अग्निजन्यपाक ' है तब सम्भव है कि इनके समय में आमाशय गत ' अम्लपित्त ' का ज्ञान न हुआ हो) यह अन्न, जब आमाशय से नीचे आता है तब वहां उसकी अम्लता के कारण शुद्ध पित्त पैदा होता है। इस पित्त से यद्यपि आगे अन्न का पाचन होता है तथापि इस पाचन व्यापार मे अग्नि ही प्रधान कारण है'। (च. चि. अ. १९)

अग्नि को पृथक् व प्रधान मानने वाले पंचात्मकलोकपक्षीयों के कथन का सार पहिले वर्गीकरण में ' अग्निसंधुक्षितबलेन यथा-स्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानम् ' इसमें आया ही है। इसी को अधिक स्पष्ट इस तरह किया है कि:—' भौमाप्याग्नेयवायव्याः पंचोष्माणः सनाभसाः। पंचाहारगुणान्स्वान्स्वापार्थिवादीन्पचंति हि ॥ यथा स्वं स्वं च पुष्यंति देहद्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥ सप्तभिर्देह धातारो द्विविधाश्च पुनः पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यांति किट्टप्रसादवत् ॥ (च. चि. अ. १९) इसमें ऊष्मा शब्द पित्त वाचक है। उसको भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस् इन पांच प्रकारों में विभक्त किया जाना तथा इनके द्वारा अन्नगत अपने २ पार्थिवादि पांच आहार गुणोंका पाचन होना विशेष चिंतनीय है। इसपर से ज्ञात होता है कि उनको आहारगत भिन्न २ अंशों का भिन्न २ पित्तों के द्वारा पाचित होना प्रतीत होगया था। फिरभी वे इस पाचन व्यापार में अग्नि को ही प्रधान मानते थे।

इस तरह अग्नि को अलग मानते हुए उसके स्थान आदि का कुछ भी विचार न हो; यह संभव नहीं है। इस विषय में तंत्रान्तरोक्त 'वामपार्श्वाश्रितं नाभेः किंचित्सोमस्य मंडलम्। तन्मध्ये मंडलं सौर्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः ॥ जरायुमात्रप्रच्छन्नः काचकोषस्थ दीपवत्। और 'स्थूल कायेषु सत्वेषु यवमात्र प्रमाणतः। ह्रस्वकायेषु सत्वेषु तिलमात्र प्रमाणतः। कृमिकीटपतंगेषु बालमात्रोऽवतिष्ठते' इत्यादि वचनों को अनुमान के लिये उध्दृत करना अनुचित न होगा। और प्रायः इस कारण ही 'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते'। (सु. सू. अ. ३५) इत्यादि कहा जाता होगा।

किंतु जब यह सवाल पैदा हुआ कि 'अत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निराहोस्वित्पित्तमेवाग्निरिति' तब यह निर्णय हुआ कि 'न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपाचनादिष्वभिवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति'। (सु. सू. अ. २१) इस तरह अग्नि का अलग अस्तित्व अस्वीकार किये जाने पर अग्नि शब्द का अर्थ कहीं पित्त तो कहीं पित्तगत 'अदृष्टहेतु' भी होने लगा और अग्निस्थान भी पित्तस्थान प्रतीत हुआ। अस्तु.

आमाशय के नीचे 'पित्तधरा कला' है। इस कला के भीतरी हिस्से में जो 'श्लेष्मधराकला' Mucous Membrane है उस पर अन्न की अम्लता (वास्तव में आमाशयगत अम्लपित्त) का संस्कार होते ही यकृत में (और क्लोम Pancreas में भी) पित्त पैदा होकर गिरने

लगता है। वैज्ञानिक इसका एक कारण यह भी बतलाते हैं कि उक्त श्लेष्मधराकला पर अन्नरस की अम्लता का संस्कार होकर 'मिश्रतत्व' नामक 'अभिषूत[1]' पैदा होते हैं। इन अभिषूतों का याकृत पाचक-पित्तोत्पादक जीवाणु (याकृत कालखंड के अन्दर जो छोटे २ 'पित्तकोष' हैं उनकी दीवाल में ये रहते हैं) ओं के साथ कुछ अज्ञात सम्बन्ध है जिसके कारण उक्त जीवाणु, समीप के रक्त से अपेक्षित अंश लेकर (पित्तं रक्तस्य विकृतिः) पित्त पैदा करते हैं। इसी तरह क्लोम पाचकपित्त भी तैयार होता है।

पित्त को ही अग्नि कहने वालों का कथन है कि 'तच्च अदृष्ट हेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं, चतुर्विधमन्नपानं पचति विरेचयति च रसदोषमूत्रपुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य च अग्निकर्मणानुग्रहं करोति। तस्मिन्पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा' (सु. सू. अ. २१) अर्थात् आमपक्वाशय-मध्यस्थ पित्त, किसी अदृष्ट (इसका अर्थ 'दैव' करने के बजाय अग्नि अथवा अभिषूत[1] करना उचित है) कारण विशेष के द्वारा चतुर्विध अन्नपान को पकाता है। वह रस, दोष, मूत्र व पुरीष का विरेचन भी करता है। तथा अत्रत्य पित्त ही अपनी शक्ति से शेष पित्तस्थानों मुख, आमाशय, क्लोम, व क्षुद्रांत्रों) को पित्तोत्पादन में सहायता करता है और अपने अग्निवत् कर्म से शारीर धातुओं का भी पाचन करता है। इस पित्त को ही 'पाचक अग्नि' कहते हैं।

---

१ जिन जंतुओं के द्वारा 'आभषवण' व्यापार (जैसा कि अरिष्ट, आसव, आदि बनाने के समय) होता है उनको सामान्यतः 'अभिषूत' Enxyms कहते हैं। पित्तों में मिश्रतत्व. Secretin लालासत्व, Taylin पाचकसत्व Pepsin आदि अभिषूत रहते हैं।

इसमें अन्य पित्तस्थानों का अर्थात् अन्य पाचक पित्तों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी याकृत पाचक पित्त को सर्व श्रेष्ठ और सर्वोपकारक कहा गया है। और यही कारण है कि आयुर्वेद में इस पाचक पित्त का कुछ अधिक विवेचन उपलब्ध होता ह। यहां 'औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गंधश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ पित्तस्यात्मरूपाणि, एवं विधत्वाच्च कर्मणः स्वालक्षण्यमिदमस्य भवति ' (च. सू. अ० २०) और ' पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च (सु. सू. अ. २१) इन विधानों को ध्यान में रखना चाहिये। इनका विश्लेषण व संशोधन करना होगा।

अब यह जाना गया है कि महास्रोत की श्लेष्मधरा कला में उदकोत्पादक व पित्तोत्पादक सहस्रों पिंड हैं और वे अपरा (जरायु) से (जैसा कि कांच से दीप) आच्छादित भी हैं। अतः इनको ही ' सोममंडल ' और ' सूर्य मंडल ' कहना उचित है।

स्थान विभागानुसार पाचक पित्त के पांच प्रकार होते हैं और उनके द्वारा भिन्न २ अंशों का पाचन होता है। जैसाकिः—

(१) मुखगत पाचकपित्तः—यह ' चुबुकाधःस्थपिंडों ' से पैदा होता है। इसमें 'लालासत्व' नामक अभिषूत रहते हैं। इससे पिष्ट पदार्थों के कण बारिक होते हैं। ' पाष्टिक ' अन्नसे ' पिष्ट सत्व ' और पिष्टसत्व से ' पैष्टीशर्करा ' का बनना इसीसे आरंभ होता है।

(२) आमाशयस्थ पाचकपित्त :—इसका वास्तविक नाम ' अम्लपित्त ' है। यह अमाशयस्थ पिंडों से पैदा होता है। इसमें 'पाचक सत्व' नामक अभिषूत रहते हैं। किंतु इसमें पाचन के समय लाला

और क्लेदक दोनों मिश्र रहते हैं। और इस मिश्रण को ही 'जाठररस' Gastric juice कहते हैं। जाठररस, अम्लकल्प और जंतुघ्न है। पाचकसत्व में 'पौष्टिक' द्रव्यों के पाचन का धर्म्म है। इससे इक्षुशर्करा का फलशर्करा में या द्राक्षाशर्करा में परिवर्तन होता है। जाठररस से कुछ अंश में वसा का पृथक्करण होता है, दूध का दहीं बनता है और पिष्ट का पिष्टसत्व बनकर उससे पैष्टीशर्करा बनती है। किंतु इसका प्रधान कार्य पौष्टिक द्रव्यों का पाचन ही है।

(३) याकृत पाचकपित्तः—यह पूर्वोक्त प्रकार से याकृत जीवाणुओं से पैदा होता है। यह पीला, हलका पीला हलका लाल, या हलका हरा रहता है। इसका गंध, कस्तुरी मायल और रस, मधुर तिक्त व अनुक्षार होता है। इसमें सैंधवलवण, शारीर मद्य, वसा, क्लेदक कफ, रजंक पित्त और कुछ खानिजक्षार मिश्र रहते हैं। वसा के पाचन में यह क्लौम पाचकपित्त का सहायक है। इससे पौष्टिक अन्न का पिंडीभवन (पिंडितम्) होता है। यह कुछ अंश में सारक भी है। इसमें विशेषता यह है कि यह अन्न के साथ पक्वाशय में से होता हुआ 'अन्नरसवहा' शिराओं में और वहां से वापिस यकृत् में चला जाता है। मल के साथ कुछ बाहर भी निकलता है।

(४) क्लौम पाचकपित्तः—यह पूर्वोक्त तरीके से क्लोम में पैदा होता है। इसमें चार प्रकार के अभिषूत (अदृष्ट हेतु) रहते हैं। पोषकपाचक, पिष्टपाचक, वसापाचक और दध्युत्पादक। अम्लकल्प पौष्टिक द्रव्य के पाचन में जिस तरह पाचकसत्व अधिक सफल होता है उस तरह क्षारकल्प पोषकद्रव्य के पाचन में 'पोषकपाचक' अधिक सफल होता है। अत्रत्य पिष्टपाचक से पिष्टपदार्थों का पैष्टी-

शर्करा बहुत शीघ्र बनती है। अत्रत्य वसापाचक से वसा का क्षीरीभवन होकर वसाम्ल और वसामधु बनते हैं। दध्युत्पादक से दूध का दहीं बनता है। क्लौम पाचकपित्त, क्षारकल्प और अन्नकोथ कारक है।

(५) क्षुद्रांत्रस्थ पाचकपित्तः—यह क्षुद्रांत्रगत सोममंडलमध्यस्थ सूर्यमंडलों से पैदा होता है। इसमें परिवर्तक संज्ञक अभिषूत रहते हैं। इनके द्वारा इक्षुशर्करा का मधुशर्करामें व फलशर्करा में परिवर्तन होता है। यह पित्त, मांसल द्रव्य के पाचन में क्लौम पित्त का सहायक है। केवल क्लौम पित्त में अथवा केवल इस पित्त में पोषक द्रव्यों के पाचन का उतना सामर्थ्य नहीं है जितना कि दोनों के मिश्रण में है। इस पित्त मे वसा की अपेक्षा पोषक द्रव्य के पाचन का धर्म्म अधिक है। उक्त मिश्रण इतना तेज है कि खाली पेट में यह आंतों में सूजन पैदा करता है।

क्षुद्रांत्र में अभिषूतों के द्वारा पिष्ट का दुग्धाम्ल तथा उससे 'अंगारद्विमित्र,' Corbon-di-oxide 'उज्जन' और 'नवनीताम्ल' बनता है। पैष्टी भुस्सी का पृथक्करण होता है। अंगारद्विमित्र के पैदा होने पर पेट में अनेक वायवीय द्रव्य [कटु प्रपाकजन्य वायु] पैदा होते हैं। इनकी वानस्पत्य अन्न से अधिक पैदाइष होती है। वसा का क्षीरीभवन होताहै और उससे वसाम्ल बनते हैं। पोषक द्रव्य से मांसघटक द्रव्य तथा पोषकाम्ल बनते हैं। इन अभिषूतों के द्वारा जब पोषक द्रव्यों का पाचन होता रहता है तब अत्यंत दुर्गंधि युक्त वायु पैदा होते हैं। क्षुद्रांत्रस्थ अन्न का 'कोथ' भी पाचन में सहायक है और पाचन के समय में जो क्षारकल्प विष पैदा होते हैं उनका प्रत्यनीक है।

रंजक पित्तः—इसके विषय में यह कहा गया है कि 'यत्तु यकृत्-प्लीन्होः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः'। (सु. सू. अ. २१) अर्थात् रंजकपित्त, यकृत और प्लीहा में रहता है। यह रस को रंगता है। इस रंजन के विषय में यह कहा गया है कि 'आहारस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रस' इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम्। स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य राग मुपैति। रंजिता स्तेजसात्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते'। (सु. सू. अ. १३) इत्यादि।

उक्त विधान में यद्यपि रंजकपित्त के द्वारा रसरंजन ही बतलाया है तथापि मारीचि के कथन के अनुसार शरीर के भिन्न २ वर्ण भी इसी के कारण हैं।

यकृत में याकृत जीवाणुओं के बीच में से 'पित्त केशिका' ओं (Bile Capillaries) की केशाकार शाखा प्रशाखाएँ फैली हुई हैं। उक्त केशिकाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनमें एक रक्त कण का भी प्रवेश होना असंभव है। अतः इनमें सिर्फ आप्यरस (रक्तवारि) रहता है। याकृत जीवाणु, इस आप्यरस से अपेक्षित अंश को लेकर उससे याकृत पित्त, पैत्तिक क्षार और रंजक पित्त तैयार करते हैं।

शुद्ध रंजक पित्त के दो प्रकार हैं; (१) रक्तरंजक पित्त और (२) श्यावरंजक पित्त। दोनों में मित्र वायु [प्राण द्रव्य] रहता है पर पहिले की अपेक्षा दूसरे में अधिक रहता है। रक्तरंजक पित्त (Billi Rubin) से शरीर में पीला, सुनहरा, नारंगी, और लाल रंग रहते हैं। श्यावरंजक पित्त (Billi Verdin) से नीला व हरा रंग रहता

है। मनुष्य के पित्त में श्याव की अपेक्षा रक्तरंजक अधिक रहता है। किंतु शरीर में इनके मिश्र प्रकार ही पाये जाते हैं। जैसाकि:—

लोहित रंजक पित्त:—इसमें लोह रहने के कारण इसको 'लोहित' कहा है। इसके दो प्रकार उपलब्ध हैं; (१) समित्र और (२) अल्प मित्र अथवा अमित्र। पहिला प्रकार धमनी गत रक्त में रहता है। दूसरा प्रकार शिरागत रक्त में अथवा जब रक्त को मित्र वायु प्राप्त नहीं होता तब समस्त रक्त में रहता है। मित्रवायु को शोषित करने का इसमें धर्म्म है। एक रत्ती लोहितरंजकपित्त, एक माशा मित्रवायु को शोषित करता है। इस अवस्था में रक्त का रंग बिलकुल लाल रहता है। किंतु इसमें मित्रवायु की मात्रा जितनी कम रहती है उतनी ही उसमें श्यावता रहती है। आयुर्वेद में रक्त के 'जीवरक्त' और 'श्यावरक्त' दो प्रकार माने जाते हैं। मित्रवायु का कुछ अंश शिरागत अथवा श्यावरक्त में भी रहता है। कुछ विकृतियों में लोहित रंजक पित्त के साथ मित्रवायु का इतना घनिष्ठ संबंध होता है कि वह आसानी से अलग नहीं होता।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि शुष्करक्त से (अर्थात् ही लोहितरंजक पित्त से) जो लोहरहित रंजकपित्त अलग किया जाता है वह यकृतस्थ 'रक्तरंजकपित्त' के बिलकुल सदृश है। दोनों की पैदाइश एक ही जगह से होती है और रासायनिक परीक्षा द्वारा दोनों में सरीखे द्रव्य पाये जाते हैं। लोहितरंजकपित्त के विघटन या न्यूनता से (आयुर्वेदानुसार प्रकोप से) पांडु, कामला, हलीमक इ. रोग पैदा होते हैं। यकृत में लोहित रंजक पित्त रहता है और उससे उक्त रक्तरंजक और श्याव रंजक दोनों का पृथक्करण होता है। शेष लोह याकृत जीवाणुओं में संचित किया जाता है।

लोहित रंजक पित्त, यकृत् में जिस तरह पृथक् उपलब्ध होता है उस तरह प्लीहा[1] में पृथक् उपलब्ध नहीं होता।

लोह रहित रंजक पित्त, भी सृष्टि में पाया जाता है। मनुष्य के मूत्र में यह रहता है।

क्षुद्रांत्रस्थ रंजक पित्तः—यह क्षुद्रांत्रस्थ क्षार तथा याकृत पित्तस्थ रक्तरंजकपित्त के संयोग से पैदा होता है। यह पुरीष में तथा रक्त के द्वारा मूत्र में पाया जाता है। तदनुसार इनको पुरीषरंजक, और मूत्र-रंजक भी कह सकते हैं।

वसारंजक पित्तः—यह वसा में और अंडे की जर्दी में रहता है।

त्वक्रंजक पितः—बाह्या त्वक् में सबके नीचे 'ताम्रा' त्वक् है। उसमें रंगीन कण हैं, (इन कणों को 'तेजो धातु' भी कहा गया है; जैसाकि च. शा. अ. ८ और सु. शा. अ. २ में) इन कणों की वर्ण भिन्नता के कारण ही भिन्न २ मनुष्यों का भिन्न २ वर्ण रहता है।

---

१ प्लीहा के अंतर्भाग (अंतः प्लीहा) का रंग काला, लाल या भूरा है। इन वर्णों के जीवाणुओं से ही यह बना हुआ है। रंगीन जीवाणुओं के आसपास कुछ स्वयंचेष्ट कण, रक्त कण, और बड़े लाल कण रहते हैं। प्लीहा में रक्तस्थ श्वेत कण बनते हैं। प्लीहाभिव्टाद्धि का व रक्तजन्य पांडुता का संबंध है। कुछ प्राणियों की प्लीहा में रक्त कण भी बनते हैं। रक्त कणों की जीवितयात्रा समाप्त होने पर वे कायाकल्प के लिये प्लीहा में आते हैं। यहां उनकी अनेक विशीर्यमाण अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं। आमाशय को रक्त की सहायता करने के लिये प्लीहा में रक्तसंचय होता है। प्लीहा में मरुत् युक्त द्रव्यों का पृथक्करण होता है। प्लीहा, अंतःस्रावी पिंड है। शरीर में इसके सदृश कार्य करने वाले कुछ और भी पिंड हैं।

नेत्र रंजकपित्तः—यह लोहयुक्त है और नेत्र के 'कालक' में रहता है। इस जाति का रंजक नीग्रो जाति की त्वचा में भी रहता है। शरीर के किसी २ (संधानक) धातु में, अपरा में और नाड़ियों में भी पाया जाता है।

केशरंजक पित्तः—बालों में अनेक प्रकार के रंग रहते हैं। इन रंगों के कारण किसी के बाल काले तो किसी के भूरे रहते हैं। इसके अभाव में बाल सफेद हो जाते हैं।

साधक पित्तः—इसके विषय में यह कहा गया है किः—

यत् पित्तं हृदयस्थितं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा;
सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः॥ (सु. सू. अ. २१)

जो पित्त हृदय में रहता है उसको साधक अग्नि कहते हैं अथवा उसमें स्थित अग्नि को साधक कहते हैं। वह मन के अपेक्षित विषयों का साधक है।

हृदय के विषय में विशेषतः हृद्गत धातुप्रसाद के विषय में दो तरह से विचार किया जाता था; एक करणवृत्तिरूपवायु की दृष्टि से और दूसरा आत्मस्थान की दृष्टि से। जब करणवृत्तिरूपवायु की दृष्टि से विचार किया जाता था तब हृदयस्थित धातुप्रसाद को शीर्षस्थित प्राण का संचार क्षेत्र कहा जाता अर्थात हृद्गत धातुप्रसाद, एक 'वायवीयद्रव्य' माना जाता। किंतु जब आत्मस्थान की दृष्टि से विचार किया जाता तब इसको 'पित्त' शब्द से संबोधित किया जाता। उक्त विधान इस दृष्टि से ही किया गया है।

क्योंकि प्रायः सभी आर्ष वैज्ञानिक हृद्गत धातुप्रसाद में लिंगदेहधारी जीवात्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में यह कहा गया है कि "हृदय कमल के भीतर सूक्ष्मतर आकाश में अपने अन्न (तत्रत्य धातुप्रसाद) के सहारे 'जीवात्मा' स्थित है। हृदय कमल से एक सौ एक (प्रत्यक्ष में अभी एक का ज्ञान हुआ है) सूक्ष्म ज्ञान वाहिनियाँ निकलती हैं जिनके कि सहस्रों प्रशाखाएँ होती हैं। हृत्कमलस्थ लिंग देहधारी आत्मा, इन नाड़ियों द्वारा बुद्धि, मन, इन्द्रिय इनके विषयों की जानकारी प्राप्त करता है। "मैं हूं" इसमें जो 'अहंभाव' अथवा व्यक्तित्व है वह जीवात्मा का परिचय है। योगी, इस जीवात्मा को 'उदान' वायु के द्वारा 'सुषुम्ना' नाडी के रास्ते से ऊपर मूर्द्धा में में ले जाते हैं और वहां (शिव रहता है) जीव शिवात्मैक्य का अनुभव करते हैं। योगी, इस जीवात्मा में लीन होकर जो चाहता है वही प्राप्त करता है।" (छांदोग्य, बृहदारण्य, तैत्तिरीय, मुंड और कंठ से संग्रहित) और आयुर्वेद में भी यह कहा गया है कि:—

"षडंगमंगं विज्ञानमिंद्रियाण्यर्थपंचकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ।
गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थाचिंतकैः ।
तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति ।
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ॥
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ।

अर्थात् हृदय, षडंग शरीर का केंद्र है, उसमें ही अर्थ ज्ञान और विज्ञान होता है। सगुण आत्मा और मन हृदय में ही रहते हैं। उक्त

भावों के प्रतिष्ठार्थ ही हृदय है। हृदय के आघात से मूर्च्छा और भेद से मरण होता है। वह परओज का स्थान है और उसमें चैतन्य का संग्रह है"।

सारांश यहां हृदय स्थित धातुप्रसाद को साधक पित्त शब्द से संबोधित किया गया है और सम्भवतः आत्मा को अग्नि शब्द से। आत्मा को अग्नि शब्द से संबोधित करना तत्कालीन प्रथा के अनुरूप ही है। सिवाय यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि उक्त साधकपित्त का विवेचन उन संप्रदायों के द्वारा किया गया है जो 'वायु द्रव्य' का प्राणादि प्रकारों में वर्गी करण करते थे। ये जिस तरह हृद्गत धातुप्रसाद को पित्त कहते हैं उस तरह नेत्रगत धातुप्रसाद को भी पित्त कहते हैं।

आलोचक पित्तः—इसके विषय में यह कहा है किः—

यत् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन् आलोचकोऽग्निरिति
संज्ञा, स रूपग्रहणेऽधिकृतः॥ (सु. सू. अ. २१)

अर्थात जो पित्त दृष्टि में रहता है उसको आलोचक अग्नि कहते हैं। वह रूप ग्रहण करता है।

दृष्टि के विषय में यह कहा गया है किः—

नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमंडलमुच्यते।
कृष्णात् सप्तममिच्छंति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः॥
पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मंडलानि तु।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोंऽत्या यथोत्तरम्॥
(सु. सू. अ. १)

मसूरदलमात्रां तु पंचभूतप्रसादजाम् ।
खद्योतविस्फुलिंगाभां सिद्धां तेजोभिरव्ययैः ॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम् ।
शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिंतकाः ॥
(सु. उ. अ. ७)

नेत्र में बाह्यपटल के पीछे जो ‘ कृष्ण मंडल ’ दिखाई देता है उसके पीछे रंगीन धातुओं का बना हुआ विवर युक्त ‘ दृष्टि मंडल ’ है । शारीर शास्त्र दृष्टया दृष्टिमंडल गत विवर को ‘दृष्टि’ कहते हैं । ‘ दृष्टि ’ शब्द का यदि इतना ही अर्थ स्वीकार किया जाय तो इस दृष्टि में अथवा विवर में जो ‘ तेजोजल ’ भरा हुआ है उसको ‘ आलोचक ’ पित्त कहना होगा । यह दृष्टि में बाह्यपटल से भीतर तृतीयपटल (अक्षिकाच Lens) तक भरा हुआ है । अतएव यह कहा भी है कि ‘ सिद्धां तेजोभिरव्ययैः ’ और ‘ तेजोजलाश्रितं बाह्यम् ’ इ० । यह तेजोजल, रक्त से पसीजने वाला एक तरल है । इन्द्रिय धर्म्म शास्त्र की दृष्टि से यह तेजोजल ‘ वक्रीकरण साहित्यों ’ में से एक है । इसके द्वारा प्रकाश किरणों का ‘ वक्रीभवन ’ होता है ।

किंतु ‘ रूप ग्रहण ’ की दृष्टि से विचार किया जाय तो यहां ‘ दृष्टि ’ शब्द का अर्थ अधिक व्यापक करना होगा । रूप ग्रहण अथवा आलोचन शब्द, यद्यपि सामान्यतः उन सब व्यापारों के वाचक हैं जिनसे कि बाह्य दृष्य का प्रतिबिंब, चतुर्थपटल के ‘लिंग’ भाग पर पाडा जाता है तथापि उसका विशेष अर्थ ‘ रूप ज्ञान ’ है और वह अभिप्रेत भी मालूम होता है । ऋषियों को यह भली भांति मालूम था कि रूप ज्ञान में ‘ लिंग ’ भाग ही प्रधान कारण है और लिंग

नाश से रूप ज्ञान कतई नष्ट हो जाता है। अतः इस पित्त विवेचन में दृष्टि शब्द की व्याप्ति चतुर्थपटलस्थित धातुप्रसाद तक बढाना आवश्यक है।

दृष्टि संज्ञक विवर का और चतुर्थपटल का संबंध इस तरह भी है कि दृष्टिमंडल का जो हिस्सा दृष्टि के भीतर खुला हुआ है उसके पिछले भाग में एक रंगीन अणु अवयवों की तह है। यह तह चतुर्थ पटल के रंगीन स्तर का आगे बडा हुआ हिस्सा ही है।

दृष्टिविवर के पीछे 'तृतीय पटल' या 'अक्षिकाच' है। यह 'भेद' का (भेदस्तृतीयं पटलम्) बना हुआ, पारदर्शक व बाह्यगोल है। इसके पीछे अक्षिश्लेष्म है जो कि पारदर्शिका कला से ढंका हुआ है। इस अक्षिश्लेष्म के ही पीछे चतुर्थपटल है। इस चतुर्थपटल में 'लिंग' नामक एक भाग है। इसका व्यास १/२४ अंगुल और रंग ईषत्पीत है। इसके मध्य में एक दबाहुआ अंग है; उसको 'लिंग नाभि' कहते हैं। लिंग भाग के और उसके आसपास के नाडीजाल को देखते हुए यह कहना पडता है कि यह मस्तिष्क का परिवर्धित रूप है। लिंग भाग में शंक्वाकृति अणुअवयव हैं। प्रकाश से इनमें हलचल पैदा होती है। इसके पास रंगीन अणुअवयवों की तह है।

किसी भी 'लक्ष्य' से परावर्तित होने वाले प्रकाशकिरणों को क्रमशः कृष्ण मंडल, दृष्टि, तेजोजल, अक्षिकाच और अक्षिश्लेष्म इनमें से पार होकर लिंग भाग पर पडना जरूरी है तब कहीं रूप ग्रहण होता है। प्रकाश किरण, जब नेत्र में प्रविष्ट होते हैं तब उनका कृष्ण मंडल, तेजोजल, अक्षिकांच और अक्षिश्लेष्म, इनकी बाह्य गोलता व सापेक्ष

घनविरलता के कारण ' वक्रीभवन ' होता है । फलतः फैले हुए प्रकाश किरण सिमिट जाते हैं और बडे से बडे दृश्य की प्रतिमा उसके अंतर के सहित अत्यल्प अवकाश या बिंदु में समा जाती है ।

रूप ग्रहण के लिये उक्त ' प्रतिमाबिंदु ' का लिंग भाग पर पडना आवश्यक है । जब तक उक्त 'नेत्रगत प्रतिमाबिंदु' लिंग भाग पर ठीक केंद्रित न होगा (आगे या पीछे पडता होगा) तब तक रूप-ग्रहण नहीं होगा । यह कार्य नेत्रगत ' केंद्रीकरणसाहित्य ' के द्वारा होता है ।

पास का या उजियाले का दृश्य देखने के समय ' वर्तुल स्नायु ' संकुचित होता है; फलतः दृष्टिमंडल व दृष्टि दोनों सिंकुड जाते हैं और इससे प्रकाशकिरणों का नियमन होता है । इसके विपरीत अर्थात अंधियारे में दृष्टि बडी होती है । दृष्टि के इस आकुंचन प्रसरण से देखने में बडी सुविधा होती है । दूर का दृश्य देखने के समय 'नेत्र-कंडरा ' मध्य पटल को आवश्यक सीमा तक आगे पीछे तानती है । इस तनाव के कारण तृतीय पटल का पुरोभाग भी आग की तरफ तनकर अधिक बहिर्गोल बनता है । इस व्यापार से प्रकाश-किरणों का उक्त नेत्रगत प्रतिमाबिंदु लिंग भाग पर ठीक–ठीक केंद्रित होता है ।

इस तरह बाह्य दृश्य की प्रतिमा लिंग भाग पर जब पडती है तब तत्रत्य शंक्वाकृति अणु अवयवों के तथा नाडियों के कारण रूप ज्ञान होता है । अतः प्रस्तुत में दृष्टि शब्द का अर्थ व्यापक करके अत्रत्य धातु प्रसाद को आलोचकपित्त कहना उचित है । फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह विवेचन उन संप्रदायों को मान्य नहीं हो सकता जो रूप ग्रहण को प्राण धर्म्म का कार्य मानते हैं ।

भ्राजक पित्तः—इसके विषय में यह कहा गया है कि:—

यत्तु त्वचि पित्तम् तस्मिन्भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा;
सोऽभ्यंगपरिषेकावगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां
पक्ता, छायानां च प्रकाशकः ॥ (सु. सू. अ. २१)

अर्थात जो पित्त त्वचा में रहता है तद्गत अग्नि को भ्राजक कहते हैं। भ्राजक, मालिश, भंपारे, स्नान, लेप आदि उपायों के द्वारा व्यवहार की जानेवाली औषधियों का पाचन करता है और छायाओं को प्रकाशित करता है।

त्वचा के द्वारा कई तरह की औषधियों को तथा स्नेहों को शोषित किया जाता है। भ्राजक पित्त, इन शोषित पदार्थों का पाचन करके उनको शारीर धातुओं में उपशयन करने योग्य बनाता है। वाग्भट ने अपने भ्राजक पित्त के विवेचन में इस कार्य का उल्लेख नहीं किया है।

साधारणतया मनुष्य, काले, कालेसांवले, निमगोरे, या गोरे होते हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ प्राकृतिक वर्ण हैं। फिर भी केवल नील, केवल श्याम, केवल ताम्र, हरित, और श्वेत ये अप्राकृतिक कहे जाते हैं।

वर्ण, प्रभा और छाया से युक्त रहते हैं। कोई भी पुरुष बिना प्रभा या छाया के नहीं रह सकता। प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है तो छाया तिरोहित करती है। प्रभा दूर से भी चमकती है पर छाया पास से दिखाई देती है।

प्रभा ' तैजसी ' होकर सात प्रकार की है; रक्ता, पीता, श्यामा हरिता, पांडुरा और कृष्णा ।

छाया में दो प्रकार हैं; छाया और प्रतिच्छाया (पडछांह) तहां छाया, वर्ण प्रभाश्रिता रहती है और इसके ' सुषमा ' व ' विषमा ' दो प्रकार हैं । चूंकि जब कि शरीर पंच महाभूतों का बना है तब छाया भी विविध होती है । जैसा कि:— नाभसी छाया निर्मला, सस्नेहा, व सप्रभा रहती हैं; वायवी रूक्षा, श्यावारुणा व हतप्रभा रहती है; आग्नेयी रक्ता, दीप्ताभा व दर्शनप्रिया रहती है; जलीया, स्फटिक विमला व सुस्निग्धा रहती है और पार्थिवी स्थिरा, स्निग्धा, घना, श्लक्ष्णा, श्यामा व श्वेता रहती है । प्रतिच्छाया ' संस्थानाकृतिलक्षिता ' होती है । इसके संस्थान जल, ऐना, आतप आदि होते हैं और आकृति अल्प, मध्य, महान् इ. होती है ।

भ्राजक पित्त व प्रभा दोनों तेजस् होने के कारण भ्राजक, प्रभा की वृद्धि करता है और प्रभा, छाया को प्रकाशित करती है ।

इस भ्राजक पित्त का संबंध हमारी राय में वसाख्य तेज से है । यह तेज ही मांसधरात्वक् में केश गृहों के नीचे जो स्निग्धपिंड ' हैं उनमें रहता है और त्वचा को मृदु, चिकनी व कांतियुक्त रखता है । इसमें पक्ति धर्म भी है जैसा कि ' तेन मार्दवसौकुमार्यमृद्वल्प रोमतोत्साहदृष्टिस्थितिपक्तिकांतिदीप्तयो भवंति ' इसमें स्वीकार किया गया है । और यदि यह सत्य हो तो वसाख्य तेज की व्याप्ती के अनुसार भ्राजक पित्त को भी अधिक व्यापक बनाना उचित था ।

श्लेष्मा के प्रकार

कार्य के अनुसार श्लेष्मा के भी पांच प्रकार किये गये। जैसा किः—क्लेदक, अवलंबक, बोधक, तर्पक, और श्लेषक।

क्लेदकः—इसके विषय में यह कहा गया है किः—

तत्र आमाशयः....चतुर्विधस्य आहारस्य आधारः
सच तत्र औदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः
सुखजरश्च भवति ॥
माधुर्यात्पिच्छिलत्वाच्चप्रक्लेदित्वात्तथैवच ।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ॥
सतत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां
शरीरस्योदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥ (सु. सू. अ. २१)

अर्थात आमाशय, चतुर्विध अन्नपान का (पाहिला) आधार-स्थान है उसमें तत्रत्य उदक गत गुणों के द्वारा आहार पतला होता है, उसके कण अलग अलग होते हैं और वह पाचन के योग्य बनता है। उक्त उदक के माधुर्य, पैच्छिल्य और प्रक्लेदित्व इन गुणों पर से यह सिद्ध होता है कि मधुर व सोमात्मक श्लेष्मा, (सर्व-प्रथम) आमाशय में पैदा होता है। आमाशयस्थ यह श्लेष्माही अपनी शक्ति (बल) व उदक कर्म से अन्य श्लेष्मस्थानों को और शरीर को उपकृत करता है।

महास्रोत की श्लेष्मधरा कला में 'सूर्य मंडलों' के सदृश ही सहस्त्रों 'सोममंडल' हैं और उनसे क्लेदक स्रुत होता है। इसके भी स्थानतः प्रभेद किये जा सकते हैं। जैसा किः—

मुखगत क्लेदकः—यह कर्णमूलस्थ पिंडोंसे व ष्ठीवक पिंडों से स्रुत होता है और लालारस में 'मुखगतपाचकपित्त' के साथ शामिल रहता है। लालारस में इनके साथ २ बोधक कफ भी रहता है अन्नकणों को अलग २ करना जो कि एक रासायनिक कार्य है; मुख्यतः लालासत्व नामक अभिषूतों का अर्थात मुखगतपाचकपित्त का है। पर यह कार्य सुखपूर्वक होने के लिये क्लेदन की आवश्यकता रहती है।

आमाशय गत क्लेदकः—आमाशय की उपश्लैष्मी कला में जो श्लेष्मपिंड हैं उनसे यह स्रुत होता है और जाठर रस में अम्लपित्त के साथ शामिल रहता है।

क्षुद्रांत्रगत क्लेदकः—क्षुद्रांत्र की उपश्लैष्मी कला में सोममंडलों के गुच्छ के गुच्छ हैं जोकि सूर्यमंडलों को घेरे हुए हैं। इनसे क्लेदक स्रुत होता है।

बृहदंत्रगत क्लेदकः—यहां के 'सोममंडल,' क्षुद्रांत्रस्थ मंडलों की अपेक्षा बडे हैं। उनसे पैदा होने वाला क्लेदक ही यहां का प्रधान रस है।

चूंकि जब कि शरीरगत उदक सिद्धांततः श्लेष्मा है और उसकी पूर्ति क्लेदक करता है तब पित्तगत उदक भी इसका ही अंश है। और इस कारणही लालारस में तथा याकृतपित्त में पिच्छिलगुण श्लेषक उपलब्ध होता है।

अवलंबकः—इसके विषय में यह कहा गया है किः—

उरःस्थः, त्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरस-
सहितेन हृदयावलंबनं करोति। (सु. सू. अ. २१)

अर्थात वह क्लेदक ही उरोभाग में संचार करके त्रिक (ऊर्ध्वत्रिक) को धारण करता है और अन्नरस से युक्त अपनी शक्ति से हृदय का अवलंबन करता है, अतः उसको अवलंबक कहते हैं।

यह श्लेष्मा, ' अवलंबिकाकला ' में रहता है। अवलंबिका कला, फुफ्फुसावरण और हृदयावरण इनके दो तहों के बीच में रहती है। इसमें एक तरल बहुत थोडी मात्रा में रहता है। इसमें रस धातु मिश्रित है। इस तरल की यहां उतनी ही मात्रा रहती है जिससे कि हृदय को व फुफ्फुस को किधर से भी रगड या धक्का न लगने पावे और उनका निमेषोन्मेषण भी आसानी से होता रहे। इस तरल के अर्थात ही अवलंबक के विकृत होने पर ' उरस्तोय ' (प्ल्यूरसी) नामक भयंकर रोग होता है। अवलंबिका कला, त्रिक में बंधी हुई है और वहां से ही (संभवतः) अवलंबक का आगम होता है। वाग्भट ने इसको ही शेष श्लेष्मस्थानों का अवलंबन कर्ता कहा है।

बोधकः—इसके विषय में यह कहा गया है किः–

जिव्हामूलकंठस्थो जिव्हेंद्रियस्य
सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने प्रवर्तते। (सु. सू. अ. २१)

अर्थात बोधक कफ, जिव्हामूल व कंठ में रहता है। जिव्हेंद्रिय, सोमगुणात्मक होने के कारण उससे रसज्ञान होता है।

रसज्ञान यद्यपि धातुप्रसाद के कारण अर्थात प्राणधर्म के कारण होता है तथापि रसज्ञान के समय अन्नांश का बोधक से गीला होना जरूरी है। बोधक कफ, जिव्हाधःस्थ ' बोधककफ पिंडों ' से स्रुत होता है।

तर्पकः—इसके विषय में यह कहा गया है किः—

शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वात्
इंद्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति । (सु. सू. अ.२१)

अर्थात तर्पक शिर में रहता है । स्नेहन (चिकनाहट) और तर्पण (तरी) उसका कार्य है । यह अपनी शक्ति से समस्त इंद्रियों पर अनुग्रह करता है ।

मस्तिष्क और सुषुम्नारज्जु के बीच में 'पक्ष्मापरा' Ciliated Epithelium की बनी हुई एक थैली है । इस थैली में यह भरा रहता है । यह मस्तिष्क तथा सुषुम्ना को भीतर से तर रखता ही है सिवाय इसके आवरणों के बीच में और उनकी सतह पर फैल कर बाहर से भी तर रखता है ।

काप्य ने संभवतः इसीके उपलक्ष्य में यह कहा है कि 'अकुपित श्लेष्मा, उत्साह ज्ञान, बुद्धि, क्षमा, धृति, अलोभ आदि भावोंको पैदा करता है आर कुपित श्लेष्मा आलस्य, अज्ञान, मोह, आदि तद्विपरीत भावों को ।

इस तर्पक की विकृति से ही 'मोहज्वर' (Meningitis) होता है ।

इस तर्पक के द्वारा अन्य इंद्रियों का तर्पण होना जिस हेतु से कहा गया है उस पर विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि जहां २ पक्ष्मापरा है वहां २ के तरल को ऋषि, तर्पक कहना चाहते हैं । क्योंकि पक्ष्मापरा शरीर में अन्यत्र भी रहती है; उससे

(तद्गत श्लेष्मपिंडों से) भिन्न २ प्रकार के श्लेष्मा भी पैदा होते हैं और उनका भी प्रधान कार्य तर्पण ही है। उदाहरणार्थ—श्वासमार्ग के भीतर की श्लेष्मधराकला में पक्ष्मापरा है और तद्गत पिंडों से एक प्रकार का श्लेष्मा पैदा होता है। उसी तरह दोनों अपस्तंभों और उनकी शाखा प्रशाखाओं की दिवाल में भी पक्ष्मापरा है। फुफ्फुस में इस तर्पक के साथ 'श्लेषक' भी रहता है। नाक के भीतरी भाग में पक्ष्मापरा है और वहां कुछ पिंड हैं। इन पिंडों से पैदा होने वाले तरल से नाक का भीतरी भाग तर रहता है और इस तरल में जो वस्तु घुल जाती है उसके गंध का ज्ञान होता है। इसका फौफ्फुस तर्पक के साथ संबंध है। स्त्रियों के गर्भाशय और फलवाहिनियों में पक्ष्मापरा है और उससे पैदा होने वाला तरल स्त्री प्रजननेंद्रिय का तर्पण करता है। उसी तरह पुरुष के वृषणगत 'उर्ध्वगामीस्त्रोतों' में पक्ष्मापरा है और उससे भी एक प्रकार का स्राव होता है। सारांश पक्ष्मापरा से पैदा होने वाले तरल को सामान्यतः तर्पक कहते हैं।

श्लेषकः- इसके विषय में यह कहा गया है कि:—

संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेषात्
सर्वसंध्यनुग्रहं करोति। (सु. सू. अ. २१)

अर्थात श्लेषक संधियों में रहता है और सब प्रकार की संधियों को लिपट कर बांधता है।

उदक में अथवा क्लेदक में रहने वाले पिच्छिल गुण पर से इसका ज्ञान हुआ। शरीर में इसके अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं जो कि भिन्न २ स्थानों में अपने उत्पादक अणु अवयवों अर्थात पिंडों

से पैदा होते हैं। तदनुसार इनके रासायनिक संगठन में और गुणधर्म्मों में भी भिन्नता रहती है। लार, जाठर रस, पित्त, मूत्र तथा शरीर में पैदा होने वाले अन्य कई प्रकार के रसों में ये रहते हैं। प्रत्येक अणु अवयव में, उनकी संधि में, कलाओं में, (कलाएँ श्लेष्म, स्नायु, fibres और अपरा ओं Epithelium की बनी हुई हैं) धातुओं में, पर्वों में, प्रतानों में, श्वास संस्था में, अंतः फलों में, कलल में, तथा नेत्र में ये प्रकार उपलब्ध होते हैं। इनमें कुछ धर्म्म समान होते हैं। यद्यपि ये सब श्लेषक हैं तथापि इनका सब का जो मूलभूत द्रव्य है वही मुख्य है अतः उसको ही 'श्लेषक' (mucin) कहना उचित है। यह 'स्तंभापरा' के श्लेष्मपिंडों से विशुद्ध अवस्था में भी पैदा होता है। यह स्तंभापरा महास्त्रोत में मुख से गुदतक है।

इस पर से यह भली भांति ज्ञात होता है कि शरीर गत समस्त पदार्थों का वात-पित्त-श्लेष्माओं में समन्वय करने की बुद्धि से उक्त प्रकारों की कल्पना की गई है। इस कल्पना को वैज्ञानिक-दृष्टया पूर्ण करना भविष्य के आधीन है।

सत्व के प्रकार

यद्यपि 'वृत्ति' तः सत्व, एक है तथापि विशेषताओं के कारण उसके अनेक प्रकार माने गये हैं। वैशेष्यकर भावों के विषय में यह कहा गया है कि "सत्ववैशेष्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां मातापितृसत्वान्यन्तर्वत्न्याः श्रुतयश्चाभीक्ष्णं स्वोचितं च कर्म सत्वविशेषाभ्यासश्चेति"। [च. शा. अ. ८] अर्थात भिन्न २ प्राणिओं का (क्षेत्रज्ञ के साथ आया हुआ) सत्व, अपने २ मातापिता (फल व बीज) के सत्वों का अनुकरण करता है। गर्भावस्थामें गर्भिणी के

श्रुतगीताचिंतित का भी गर्भसत्व पर संस्कार होता है। पूर्वजन्मार्जित विशेषताएँ उसमें रहती ही हैं और इस जन्म में भी वह विशिष्ट प्रकार का बौद्धिक अभ्यास करता है। इन सब कारणों से सत्व में अनेक विशेषताएँ पैदा होती हैं। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि " योनिविशेष और अवयत रचना विशेष के कारण (अन्योन्यानुविधायित्व के कारण) सत्व में जो विशेषताएँ पैदा होती हैं उनमें सात्विकादि प्रभेदों और उनके तरतमादि योगों से जो प्रकार होते हैं वे असंख्य हैं'। संक्षेप में इनका दो तरह से विवेचन उपलब्ध होता है; बलभेदानुसार और महाप्रकृति संज्ञक।

बलभेदानुसार:-सत्वमुच्यतेमन:। तत् शरीरस्य तंत्रकमात्मसंयोगात्। त्रिविधं बलभेदेन प्रवरंमध्यममवरमिति। अतश्च प्रवरमध्यावरसत्वा भवंति पुरुषाः। तत्र प्रवरसत्वाः स्वल्पास्ते सारेषूपदिष्टाः। (यथा स्मृतिमंतो, भक्तिमंतः, कृतज्ञाः, प्राज्ञाः, शुचयो, महोत्साहा, दक्षा, धीराः, समरविक्रांतयोधिनः, त्यक्तविषादाः, सुव्यवस्थितगतिगंभीरबुद्धिचेतसः, कल्याणाभिनिवेशिनश्च) स्वल्पशरीराह्यपि ते निजागंतुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा दृश्यंते सत्वगुणवैशेष्यात्। मध्यमसत्वास्तु अपरानात्मन्युपधाय संस्तंभयंत्यात्मनात्मानं परैश्चापि संस्तम्यंते। हीनसत्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्वबलं प्रति शक्यंते उपस्तंभयितुम्। महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यंते; सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृत संकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्माद भ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवंत्यथवा मरणमिति। (च. वि. अ.८)

सत्व कहते हैं मन को। वह आत्मा के संबंध से शरीर का तंत्रक है। बल के प्रवर, मध्य और अवर भेदानुसार वह तीन प्रकार

का है। अतः पुरुषों में भी प्रवरसत्व, मध्यसत्व और अवरसत्व इस तरह तीन प्रकार दिखाई देते हैं। तहां प्रवर सत्व, जो कि कम उपलब्ध होते हैं; उनका वर्णन सार के विवेचन में किया गया है। (ये स्मृतिशाली, भक्तिमान, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, पवित्र, बडे उत्साहयुक्त, अपने कार्य में दक्ष, धैर्यशील, समर में खूब लडने वाले, विषाद रहित सुस्थिरगति, गंभीरबुद्धि और कल्याणचिंतक होते हैं) छोटे डील वाले होते हुए भी इनका सत्व बलवत्तर होता है फलतः वे निजागंतुक व्याधियों के कष्ट सहन करते हुए दिखाई देते हैं। मध्य-सत्व पुरुषों में यद्यपि कष्टसहिष्णुता कम होती है तथापि दूसरों के ढाढस को देख कर अथवा दूसरों के द्वारा ढाढस दिये जाने पर उनको धैर्य आ जाता है। किंतु हीनसत्व पुरुष किसी अवस्था में भी धैर्य नही रख सकते। उनका डील कितना ही बडा क्यों न हो पर वे तनिक भी कष्ट सह नही सकते। भय, शोक, लोभ, मोह सर्वदा उनके पास रहते हैं। उग्र, भीतिप्रद, क्रोधयुक्त, बीभत्स या विकृत बातों को सुनकर अथवा प्राणियों के रक्त-मांस को देखकर उनको बडा दुःख होता है, चेहरा फीका पड जाता है, मूर्च्छा आने लगती है, भ्रम हो जाता है, उन्माद होता है, पतन होता है और कदाचित् मृत्यु भी होती है।

महाप्रकृति संज्ञकः—शुद्ध सत्व, दोष रहित और कल्याणांश युक्त रहता है। यह ब्राह्म, आर्ष, ऐंद्र, याम्य, वरुण, कौबेर और गांधर्व इस तरह सात प्रकार का है और तदनुसार शुध्दसत्व पुरुष भी सात प्रकार के हैं। तहां:—

(१) ब्राम्ह काय पुरुषः—ये पवित्र, सत्यपरायण, जितेंद्रिय, न्यायप्रिय, ज्ञानविज्ञान सम्पन्न, वक्ता, जिम्मेदार, स्मरण रखने वाले,

काम क्रोध लोभ मान इर्ष्या हर्ष इनकी असत्प्रवृत्ति से रहित और भूत मात्र में समदृष्टि रखने वाले होते हैं।

(२) आर्ष कायः—ये भजन वेदाध्ययन, व्रत होम, ब्रह्मचर्य, अतिथिसेवा इनमें रत रहते हैं। बुद्धिमान् और ज्ञान विज्ञान सम्पन्न होते हैं। इनके मद, मान राग, द्वेष, रोष आदि शांत रहते हैं।

(३) ऐंद्र कायः—ये ईश्वर प्रिय, यज्ञ कर्ता, तेजस्वी, ओजस्वी, शूर, दूरदर्शी और धर्मार्थकामों का समान उपयोग करने वाले होते हैं। इनका कहा सब मानते हैं।

(४) याम्य कायः—ये स्मृतिमान्, ऐश्वर्यशाली और राग द्वेष मोह रहित होते हैं। ये लिखित नियमों के तथा प्रसंग के अनुसार काम करते हैं।

(५) वरुण कायः—ये शूर, धीर, स्वच्छ, अस्वच्छता द्वेषी, यज्ञकर्ता, जलविहारप्रिय, सुख कर्ता और योग्य स्थल में प्रेम व प्रसन्नता व्यक्त करने वाले होते हैं।

(६) कौबेर कायः—ये शुचिर्भूत, धर्मार्थपरायण, सुखविहारकर्ता, बहुपरिवार और योग्य स्थल में मानोपभोगाकांक्षी होते हैं। इनके राग व प्रसाद स्पष्ट होते हैं।

(७) गांधर्व कायः—ये नृत्य, गीत, वाद्य, स्तुति, कविता, कथा, इतिहास, पुराण इनमें कुशल होते हैं। इनको स्त्री, वस्त्राभूषण, फूल व सुगन्ध प्रिय रहते हैं। ये किसी से ईर्षा द्वेष नहीं रखते।

राजसूसत्व, रोषांशयुक्त रहता है। यह दैत्य, राक्षस, पैशाच, सार्प, प्रेत, व शाकुन इस तरह छः प्रकार का है। तदनुसारः—

(१) दैत्य कायः—ये शूर, भयंकर, परोत्कर्षासहिष्णु, ऐश्वर्यशाली, उग्र, निर्दय, बहुभोजी और आपमतलबी होते हैं।

(२) राक्षस कायः—ये क्रोधी, क्रूर, भुक्खड, मांसप्रिय, निद्रालु, छिद्रान्वेषी, मेहेनती व ईर्षायुक्त होते हैं। अपमान या नीचापन इनको बिलकुल सहन नहीं होता।

(३) पैशाच्च कायः—ये महा आलसी, लंपट, स्त्रियों में बड़ी बड़ी बातें बनाने वाले, अपवित्र, पवित्रताद्वेषी, डर बताने वाले, किंतु डरपोक, सर्वभक्षी और अनाचारी होते हैं।

(४) सार्प कायः—ये क्रोधी, शूर, निडर, क्रूर, तीखे मिजाज, ताडबाज, जासूद, झट समझने वाले और मिताहारविहार होते हैं।

(५) प्रेत कायः—ये भुक्खड, क्षुद्रस्वभाव, क्षुद्राचार, क्षुद्रोपचार, निंदक, स्वार्थी, अतिलोभी और हर काम में अयोग्य होते हैं।

(६) शकुन कायः—ये सदा वासनायुक्त, सदा खान-पान-रत, अस्थिर चित्त, अपमानासहिष्णु, उडाऊ, और धन–संचय न करने वाले होते हैं।

तामस सत्व में मोह का अंश रहता है। यह पशु, मत्स्य और वनस्पति इन तीन प्रकारों का रहता है। तदनुसारः—

(१) पशु कायः—ये झगडालु, दरिद्रवेष, निंदित आहारविहार, अतिव्यभिचारी, और निद्रालु होते हैं।

(२) मात्स्य कायः—ये डरपोक, मूर्ख, भुक्खड, अस्थिर चित्त, सर्वदा कामक्रोध रत, भटकने वाले और जलप्रिय होते हैं।

(३) वनस्पति कायः—ये आलसी, भुक्खड, व हीन ज्ञानेंद्रिय होते हैं।

उक्त सब प्रकार एक ही पुरुष में रह सकते हैं किन्तु एक समय में नहीं रह सकते। अभ्यास से इनमें परिवर्तन भी हो सकता है।